वर्ष ४, अंक १,

जनवरी १९८८

उन्मीलन

मानसिक हिन्द-स्वराज का वैतालिक
दार्शनिक षाण्मासिक

सम्पादक
यशदेव शल्य

सहयोगी
गोविन्दचन्द्र पांडे, दयाकृष्ण, राजेन्द्रप्रसाद पांडेय

दर्शन प्रतिष्ठान

उन्मीलन का यह अंक भारत भवन, भोपाल के अनुदान से प्रकाशित हो रहा है। इसके लिए हम भारतभवन के प्रति सामान्य रूप से और इसके प्रबुद्ध तथा ऊर्जस्वी निदेशक श्री अशोक वाजपेयी के प्रति विशेष रूप से बहुत आभारी हैं।

उन्मीलन का जनवरी १९८८ अंक जनवरी १९८९ में प्रकाशित हो रहा है। हम इसका जुलाई '८८ अंक मई में और जनवरी '८९ अंक अक्तूबर तक प्रकाशित करने का प्रयत्न करेंगे।

उन्मीलन : वर्ष ४, अंक १–२
जनवरी, १९८८

1

अद्वैत और मिथ्यात्व

गोविन्दचन्द्र पांडे

मूल वेदान्त अथवा उपनिषदों में अद्वैत का प्रतिपादन विश्व की मौलिक एकता के रूप में मिलता है। समस्त विश्व एक दिव्य सत्ता से व्याप्त है, वह एक बृहत् और स्तुत्य सत्य है। इस प्रकार की धारणा का सूत्रपात सृष्टि-प्रक्रिया के सन्दर्भ में हुआ था। अतएव ब्रह्म की कल्पना जगत् के मूल उपादान के रूप में हुई। चूंकि ब्रह्म की कल्पना चेतन सत्ता के रूप में थी, उसे कालान्तर में जगत् के अभिन्न निमित्तोपादान कारण के रूप में स्वीकार किया गया। इस प्रकार की दृष्टि उपनिषदों में अनेकत्र व्यक्त है और ब्रह्मसूत्रों में व्यवस्थित रूप से प्रतिपादित है। यह अद्वैत दृष्टि समस्त विश्व और उसके असंख्य वैचित्र्य में एक अनन्त और अखंड, आत्मपर्याप्त चेतन सत्ता की लीलामय अभिव्यक्ति देखती है। मानव-चेतना इसी विराट् चेतना का सीमित प्रकाश है और इसीलिये विश्व का तत्त्वज्ञान मानवीय आत्मज्ञान में पर्यवसित होता है। यह आत्मज्ञान ही मनुष्य को अशेष दुःख से निवृत्त कर सकता है और उसे मृत्यु के दंश से बचाकर वास्तविक अमृतत्व प्रदान कर सकता है। सामान्य मानव-चेतना अपने को शरीर-मन से अभिन्न समझती हुई उन्हीं की सीमाओं से बँधी रहती है। इन सीमित प्राकृत साधनों के द्वारा ही उसका अहं परिभाषित होता है। अपनी रचना एवं सीमाओं के कारण उस अहं-केन्द्रित चेतना का विश्व, प्राकृतिक एवं सामाजिक, उस सत्य के सर्वथा अनुरूप नहीं हो सकता जो अखंड ब्राह्मी चेतना में नित्य-प्रतिभात होना चाहिए। ऐन्द्रिय प्रतिभासों से सूचित एवं मानसिक विकल्पों से परिभाषित तथा व्याख्यात दृश्य विश्व के नाना जड़ और परिच्छिन्न विषय ज्ञानोदय होने पर किस प्रकार अपने नामरूपात्म "हिरण्मय" मुखौटों को छोड़ कर पारमेश्वरी चेतना के अखंड आत्मबोध में विलय प्राप्त करते हैं इसको समझने-समझाने के लिए अनेक प्रकार की उपमाएं सुझाई गई हैं जिनमें सबसे प्राचीन परिणामात्मक सृजन और विलयन की ही है। किन्तु इन उपमाओं की तार्किक व्याख्या टेढ़ी खीर है।

यदि आदर्श ज्ञान ईश्वरीय ज्ञान है तो मानवीय ज्ञान को किसी न किसी अर्थ में अज्ञान ही ठहराना होगा। कहां नित्य और अखंड आत्मबोध, कहां अनित्य आत्मानात्म-संकीर्ण बोधः बहिर्मुख, भेदावगाही, संकल्प-विकल्पात्मक, प्रवृत्ति-सन्दृब्ध ! मानवीय चेतना अज्ञान के कुहासे में ढँकी है और अपने विश्व को भी असत्य छायाओं से गढ़ती है। अद्वैत स्वानुभूति-सिद्ध है, भेद-जगत् व्यवहार-सिद्ध। दोनों के तार्किक अन्वयन के लिये ही वेदान्त की परम्परा में अज्ञान और मिथ्यात्व की अवधारणाओं के विविध परिष्कार की आवश्यकता हुई।

मनुष्य अपने विषय में सहज रूप से अज्ञानी है, यह बात प्रायः सभी आध्यात्मिक दर्शनों में निर्विवाद है। आत्मा को देहादि से अभिन्न समझ कर मनुष्य विषय-तृष्णा और कर्म-जाल में बंधा रहता है, इस अज्ञान के छूटने पर ही उसे मुक्ति एवं नित्य स्वरूप-स्थिति का लाभ होता है—इस पर ऐकमत्य होते हुए भी जहां द्वैतवादी अथवा आगमिक अद्वैतवादी दर्शन यह मानते हैं कि अज्ञान-कल्पित आत्म-स्वरूप मिथ्या है वे यह नहीं मानते कि अज्ञान-दशा का विश्व भी मिथ्या है। विश्व में एक प्रकार की कर्मसापेक्षता सर्वस्वीकृत है किन्तु ये सब दर्शन उसकी सत्ता को जीव के ज्ञानाज्ञान पर निर्भर नहीं मानते, क्योंकि वह स्वभाव अथवा ईश्वरेच्छा से नियत है। मानवीय ज्ञान-शक्ति अपने योग्य विषयों का समुचित ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ है। इसे न मानने पर तो ज्ञानमात्र की व्यवस्था संकटग्रस्त हो जाएगी। जगद्विषयक इस प्रमाणजन्य ज्ञान की सत्यता में आत्मविषयक अज्ञान के दूर होने से कोई अन्तर नहीं आ सकता। नाना बाह्य विषयों का स्वरूप और सत्ता जैसे प्रामाणिक ज्ञान के द्वारा अवधृत हैं वैसे ही सदैव रहते हैं, उनका आत्मज्ञान से बाध नहीं हो सकता। आत्मज्ञान से अहं-केन्द्रित संसार की निवृत्ति होती है न कि विषयव्यवस्थात्मक जगत् की सत्ता का बाध। द्वैतवादी मतों में आत्मा जगत् के घटकों में एक है और अधिकांश में उसकी कल्पना एक विषय के रूप में ही है। चूंकि अज्ञानी आत्मा ही एक ऐसा विषय है जिसमें उसके स्वविषयक ज्ञानाज्ञान से अन्तर पड़ता है फलतः आत्मविषयक अज्ञान की निवृत्ति से अन्यविषयक अज्ञान की निवृत्ति का प्रश्न नहीं उठता। अतएव उनमें आत्मज्ञान जहां आत्मा को अनात्म-सम्बन्ध से मुक्त करता है वह अनात्म-विश्व का स्वरूप नहीं बदलता। इसके विपरीत अद्वैतवाद में समस्त विश्व ही परमार्थतः आत्मस्वरूप है। अतएव आत्मज्ञान से न केवल अपना अपितु विश्व का ही ज्ञान परिवर्तित हो जाता है। अत्मविषयक अज्ञान ही जीव-कल्पना और विषय-कल्पना के मूल में है। अज्ञानमूलक इन कल्पनाओं पर आधारित ज्ञान क्रिया नहीं है और अपने विषय को बदलता नहीं है, उससे जो निवृत्त हो सकता है वह अज्ञान अथवा भ्रम ही हो सकता है। यह धारणा प्रमाण-निर्धारित प्रमेय-जगत् की व्यवहार-योग्यता का निषेध नहीं करती बल्कि समस्त व्यवहार को अज्ञान के अन्दर समेटती है जिसकी कि केन्द्रीय रचना अहं है। अहं से ही संबद्ध रूप में उसके समानान्तर भेदमय विषय-जगत् का उन्मीलन होता है।

इस प्रकार इसमें कोई सन्देह नहीं कि अद्वैत की प्रतिपत्ति में ज्ञान और अज्ञान के दो स्तरों के अनुरूप सत्यासत्य के भी दो स्तर अर्थतः अभ्युपगत होते हैं। किन्तु प्राचीन वेदान्त में चरमानुभूति का निरूपण अमृतत्व, आप्तकामत्व, भूमा, आनन्द आदि के रूप में किया गया है। ब्रह्म की सूचना यहां सघन भावात्मक रूप से होती है। इस अद्वैतवाद में मिथ्यात्व का स्थान

नहीं है अथवा नहीं के बराबर है। इसमें अद्वैत की अनुभूति को प्रत्यक्ष द्वैत से जोड़ने के लिये धार्मिक विचारधारा के अन्तर्गत सृष्टि की पुरानी धारणा का सहारा लिया गया था। विश्व के रूप में ब्रह्म ने अपना स्वयं सृजन किया है इसलिये विश्व ब्रह्म से व्याप्त, उससे अनतिरिक्त है। इस दृष्टि में न तो सृष्टि को मिथ्या कहा गया है, न अविद्या को सर्जक शक्ति के रूप में स्थान दिया गया है। **वेदान्त-सूत्रों** में यही दृष्टि अपनायी गयी है। उनमें ब्रह्म को जगत् का स्रष्टा और जगत् को उससे अभिन्न प्रतिपादित किया गया है, किन्तु जगत् के मिथ्यात्व का उल्लेख नहीं किया गया है।

तार्किक दृष्टि से इस धारणा में आपत्ति अपरिहार्य थी। नित्य और निर्विकार ब्रह्म का परिणाम कैसे? परिणाम पर निर्विकारता कैसे? यदि एक के अन्दर अनेकता निहित नहीं है तो एक कैसे अनेक हो सकता है? यदि अनेकता उसमें गर्भित है और परिणामिता भी तो ब्रह्म प्रकृति से भिन्न किस प्रकार होगा? आप्तकाम ब्रह्म की सृष्टि में प्रवृत्ति क्यों होगी? यदि प्रवृत्ति सहज है तो निवृत्ति कैसे होगी?

एक और दिशा से भी सृष्टिवाद आपत्तिजनक था। मानवीय विषमताओं और दुःखों के उत्तरदायित्व से स्रष्टा की मुक्ति किस प्रकार होगी? यदि यह उत्तरदायित्व कर्म पर डाला जाय तो कर्म संसार का विधाता बन जाता है और संसार अनादि। इस स्थिति में सृष्टि की कल्पना व्यर्थ हो जाती है। श्रमण दर्शनों में इसी विचार-धारा का प्रवाह देखा जा सकता है। इस प्रकार की संसारवादी श्रमण विचारधारा में अद्वैतवाद का विकास महायान में देखा जा सकता है। उसमें न केवल सृष्टिवाद का कोई स्थान नहीं है बल्कि किसी मूल उपादान की कल्पना के अभाव में धर्म-नानात्व का निषेध उनकी स्वभाव-शून्यता के रूप में किया गया है। यह सही है कि विज्ञानवाद में जगत् विज्ञान-परिणाम बताया गया है किन्तु उससे प्रतीयमान और व्यावहारिक जगत् सत्य नहीं बनता। वह और स्पष्ट रूप से मन का भ्रम बन जाता है। धर्म-नैरात्म्य अथवा शून्यता को महायान का सार समझा जाय तो यह कहना होगा कि महायानिक अद्वैत का अर्थ केवल मिथ्यात्ववाद है। यदि औपनिषद वेदान्त में सब भेदों को कवलित करते हुए बृहत् भावात्मक सत्य की अनुभूति मिलती है तो महायान एक विराट् शून्यता की अवधारणा के द्वारा सब नानात्व का मिथ्यात्व प्रतिपादित करता है। किन्तु इस माहायानिक शून्यता अथवा मिथ्यात्व को कोरी तार्किक प्रज्ञा की देन न मानना चाहिए। जैसे उपनिषदों के अद्वैत के पीछे भूमा अथवा पूर्णता की अनुभूति निहित है जो कि प्राचीन वैदिक कर्मयोग का आधार थी, ऐसे ही शून्यता के रूप में निवृत्ति की चरम अनुभूति महायान में देखी जा सकती है। एक दिशा आत्मा के सर्वत्र अनुसन्धान की थी, दूसरी अनात्मा के सर्वत्र निषेध की।

इन दो दिशाओं के तात्त्विक अविरोध के आधार पर गौड़पाद ने माहायानिक मिथ्यात्ववाद के साथ औपनिषद अद्वैतवाद का समन्वय प्रस्तुत किया और शंकराचार्य इस समन्वित दर्शन के उत्तराधिकारी थे। उन्होंने श्रुतिसम्मत अद्वैततत्त्व के समर्थन के लिये मिथ्यात्व का एक तार्किक प्रत्यय के रूप में उपयोग किया। यही कारण है कि **शारीरक भाष्य** के उपोद्घात में उन्होंने मिथ्यात्व के प्रत्यय का निरूपण किया है। स्वयं **वेदान्तसूत्रों** में इस

प्रकार के मिथ्यात्व का उल्लेख नहीं मिलता। इस स्थिति में शंकराचार्य ने दृष्टिभेद का सिद्धान्त अपनाकर भाष्य में व्याख्याभेद प्रस्तुत किया है। जहां सूत्रों का अनुसरण करते हुए उन्होंने सृष्टि को ब्रह्म का परिणाम स्वीकार किया है वहीं उन्होंने सृष्टि के मूल में ब्रह्म की अविद्या-शक्ति का उल्लेख किया है। और जैसाकि सुविदित है, उन्होंने भाष्य के उपोद्घात में समस्त व्यवहार को अध्यासमूलक होने के कारण सत्य और मिथ्या की जोड़ी बताया है। इस प्रकार सभी लोक-व्यवहार मिथ्यात्व पर आधारित होकर परमार्थतः मिथ्यात्व का भागी बन जाता है।

परमार्थ और व्यवहार का विभाजन एवं जगत् की मायिकता तथा मिथ्यात्व का निर्धारण शांकर वेदान्त में महायान से अनुसन्तत हैं। शंकर ने माया और अविद्या में भेद नहीं किया है और न परिणाम और विवर्त में। न ही उन्होंने ब्रह्म के स्वरूप-लक्षण एवं तटस्थ-लक्षण में भेद किया है। सगुण ब्रह्म अविद्याशक्ति के द्वारा जगत् का कारण है। जबतक जीव पर अविद्या का प्रभाव है उसके लिये जगत् और ईश्वर सत्य हैं। सारा प्रमाण-प्रमेय व्यवहार, जिसमें शास्त्र और शास्त्रीय विधि-निषेध अन्तर्भुक्त हैं, अविद्यापूर्वक ही सिद्ध होता है। यद्यपि सृष्टि के प्रसंग में अविद्या को जगन्मूलक सगुण ब्रह्म की शक्ति के रूप में वर्णित किया गया है और इस रूप में वह समष्टि-नियामक अचिन्त्य सर्जन-शक्ति है, उसे जीव के स्तर पर एक अनादि और नैसर्गिक भ्रान्ति के रूप में विश्लेषित किया गया है। एक ओर अविद्या ब्रह्म की शक्ति है और जगत् का कारण है, दूसरी ओर वही अविद्या वह मौलिक भ्रान्ति है जो अहंकार से लक्षित जीव-कल्पना को जन्म देती है। इस भ्रान्ति को शंकर ने अध्यास-रूप बताया है। आत्मा और अनात्मा प्रकाश और अन्धकार के समान विरुद्ध स्वभाव वाले हैं। उनका परस्पर अध्यारोप तर्क की दृष्टि से असंभव है और मिथ्या माना जाना चाहिए, किन्तु वह अनादि-सिद्ध है। इसी मिथ्याज्ञान पर अहंकार-ममकार आधारित हैं और उन पर समस्त लोक-व्यवहार।

अविद्या का स्वरूप, विषय और आश्रय, मिथ्यात्व का लक्षण, भ्रम की व्याख्या इत्यादि से संबद्ध विशुद्ध तार्किक प्रश्नों पर शंकराचार्य की रचनाओं में विस्तृत विवेचन नहीं मिलता। उन्होंने मानवीय बोध का विश्लेषण अनुभूति और युक्ति के आधार पर स्वतंत्र रूप से किया है किन्तु जगत् और सृष्टि के विषय में प्रायः श्रौत परम्पराओं की व्याख्या से ही सन्तोष किया है। उनके परवर्ती आचार्यों ने अविद्या, मिथ्यात्व आदि के प्रत्ययों का अधिकाधिक परिष्कार किया। इस परिष्कार की आवश्यकता मतान्तरीय आचार्यों के प्रश्नों का उत्तर देने के लिये विशेष रूप से थी। भक्ति के प्रसार के साथ वेदान्त के जो नये प्रस्थान उदित हुए : विशिष्टाद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत आदि : उनके आचार्यों ने केवलाद्वैत के मिथ्यात्व-प्रतिपादक मायावादी पक्ष की प्रचुर आलोचना की, यह सुविदित है। शास्त्रार्थ के युग में इस चुनौती के समक्ष अद्वैती आचार्यों ने मिथ्यात्व-सिद्धि को अद्वैत-सिद्धि का द्वार ही बना दिया। मधुसूदन सरस्वती ने अद्वैतसिद्धि का प्रारम्भ ही इस प्रकार किया है : "तत्राद्वैतसिद्धेर्द्वैत-मिथ्यात्व-सिद्धिपूर्वकत्वात् द्वैतमिथ्यात्वमेव प्रथममुपपादनीयम्" और अपने ग्रन्थ में उन्होंने मिथ्यात्व के अनेक लक्षण-प्रमाण संगृहीत और परिष्कृत किये हैं। निवृत्तिमार्गी मूल्यों के युग में इस

प्रकार का निषेधात्मक वेदान्त वैदिक हिन्दू-समाज के लिये पर्याप्त आकर्षण रखता था। किन्तु आधुनिक काल में कर्मप्रधान समाज-केन्द्रित मानवीय मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में पुनर्गठित हिन्दू-समाज के लिये यह निवृत्तिपरक शास्त्रार्थी वेदान्त पर्याप्त अनुकूल नहीं रहा। विवेकानन्द से राधाकृष्णन् तक विचारकों ने अद्वैत को समाज-सेवा के कर्मठ जीवन से समंजस पाया। जगत् के मिथ्यात्व के स्थान पर उन्होंने उसके व्यावहारिक सत्य को प्रमुखता दी। अद्वैत में उन्होंने मानव-स्वाधीनता और सार्वभौमता का सन्धान पाया। अद्वैतसिद्ध मानव-एकता का सूत्र वर्गीय और राष्ट्रीय संघर्षों से मुक्ति दिलाने का उपाय बन सकता है, इस धारणा को पुरस्कृत किया। आधुनिक विज्ञान विश्व में एकता का सन्धान पाना युक्तिपूर्वक मानता है। इस वैज्ञानिक दृष्टि की अद्वैत से संगति की ओर भी ध्यान दिया गया है। संक्षेप में यह कहना अयुक्तिक न होगा कि अद्वैत की नवीन व्याख्याएं उसके भावात्मक पक्ष को महत्त्व देती हैं न कि उसके निषेधात्मक पक्ष को। विवेकानन्द, रामतीर्थ, रमण महर्षि आदि मनीषियों ने अद्वैत को जिस प्रकार अपने जीवन में चरितार्थ किया उससे भी नवीन व्याख्या-प्रणाली पुष्ट होती है। इस संक्षिप्त विवरण से यह स्पष्ट होगा कि अद्वैत वेदान्त के भावात्मक और निषेधात्मक दो पक्ष हैं जिनका संतुलन विभिन्न युगों में बदलता रहा है।

अद्वैत वेदान्त न कोरी तार्किक प्रज्ञा पर आश्रित दर्शन है, न कोरी श्रद्धा पर आश्रित धर्म। अद्वैत का सत्य श्रुति और अनुभव दोनों से सिद्ध होता है। मनन के अन्तर्गत अनुकूल तर्क श्रुतिबोधित सत्य में असंभावना एवं विपरीत-भावना को दूर कर उसे साक्षात्कार के योग्य बनाता है। जैसे ईश्वर की सत्ता तर्क से सिद्ध नहीं हो सकती ऐसे ही आत्माद्वैत या ब्रह्माद्वैत भी सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष पर आश्रित तर्क से सिद्ध नहीं हो सकता। न ही जगत् का मिथ्यात्व तर्कसाध्य है, जिससे अप्रत्यक्ष रूप से अद्वैत सिद्ध किया जा सके। वास्तव में अद्वैत की सिद्धि आत्मज्ञान में ही होती है और जगत् के मिथ्यात्व का प्रत्यय यही सूचित करता है कि ज्ञानी के लिये तथा-कथित अनात्म-विषय पूर्ववत् सत्य नहीं रहते।

शंकरोत्तर अद्वैती तार्किकों ने मिथ्यात्व पर बहुत विचार किया है। उस विचार-सागर में दो बिन्दु निरन्तर उपलब्ध होते हैं। एक तो यह कि मिथ्यात्व का अर्थ है अनिर्वचनीयत्व और दूसरा यह कि दृश्यत्व मिथ्यात्व का साधक हेतु है। लौकिक व्यवहार में अर्थ और ज्ञान के सन्दर्भ में सत्य और मिथ्या का जिस प्रकार का विभाजन किया जाता है उससे अद्वैती असहमत नहीं हैं। अव्यभिचारित्व ही सत्य का नियामक है और यह नियम व्यवहार एवं परमार्थ दोनों ही स्तरों पर समान रूप से लागू होता है। व्यावहारिक वस्तु का सत्यत्व इस बात में है कि जिस रूप में वह जहां अवधारित होती है उस रूप में वहां व्यावहारिक ज्ञान से बाधित नहीं होती। व्यावहारिक रूप से सत्य होते हुए भी उस वस्तु का ब्रह्मज्ञान से अपने अधिष्ठान में बाधित होना ही उसका मिथ्यात्व है। इस प्रसंग में लौकिक भ्रम का विशेष रूप से विचार हुआ है। रज्जु में आरोपित सर्प भ्रम का विषय है और मिथ्या है तथा रज्जु प्रमा का विषय है और सत्य है, यह निर्विवाद है। किन्तु अद्वैती को इस भ्रम के स्थल में एक गम्भीर सत्य का निदर्शन प्राप्त होता है। भ्रम का विषय भ्रान्तिकाल में प्रत्यक्ष उपलब्ध होता है किन्तु ज्ञान होने पर यह निश्चित हो जाता है कि वह किसी अन्य अधिष्ठान पर पूर्व अनुभव के संस्कार से

और उपलब्धि-साधन के दोष से आरोपित था। भ्रान्तिकाल में उपलब्ध होने के कारण उसे सर्वथा असत् नहीं कहा जा सकता। दूसरी ओर ज्ञानकाल में उसके अभाव के निश्चय से उसे सत् नहीं कहा जा सकता। विषय-पक्ष में "सर्प" की सत्ता अधिष्ठान-सापेक्ष है, विषयि-पक्ष में प्रतीति, संस्कार और करण-दोष की सापेक्ष। उसकी स्वतंत्र सत्ता न होकर किसी अपेक्षाकृत स्वतंत्र अधिष्ठान में प्रतीति-सापेक्ष सत्ता है। इस प्रकार की सापेक्ष सत्ता जिसे न सत् कहा जा सकता है न असत्, अद्वैत परम्परा में अनिर्वचनीय या मिथ्या कही जाती है। चूंकि श्रुति और अनुभव के आधार पर यह माना जाता है कि जगत् भी ब्रह्मरूप अधिष्ठान पर अज्ञान के द्वारा आरोपित है और ज्ञान से निवृत्त हो जाता है, जगत् को भी "सर्प" के समान अनिर्वचनीय अथवा मिथ्या मान लिया जाता है।

भ्रम का विश्लेषण ज्ञान के विश्लेषण का अपरिहार्य अनुषंगी है और नाना दर्शनों ने अपनी-अपनी दृष्टि से उसका पटु विश्लेषण विभिन्न ख्यातियों के रूप में किया है। कुछ लोग भ्रान्ति को ज्ञान का अग्रहणात्मक अधूरापन मानते हैं, कुछ वस्तु की प्रकारान्तर से अपव्याख्या, कुछ उसमें मन की सृष्टि ही देखते हैं। वास्तव में न्यूनाधिक रूप में ये सभी आयाम ज्ञान मात्र में उपलब्ध होते हैं। विषय का ग्रहण कभी भी उसकी समग्रता में नहीं हो सकता और ज्ञान वस्तु को विषयरूप में उपस्थित करने के साथ ही उसकी विकल्प-योजना के द्वारा संरचना भी करता है। जब यह संरचना व्यवहार की अभ्यस्त प्रत्याशाओं में बाधा उपस्थित करती है तभी ज्ञान के स्थान पर भ्रान्ति का संशय सामान्यतया उपस्थित होता है। इस व्यवहार के सन्दर्भ को छोड़कर ज्ञान और उसके विषय का सत्यासत्य निर्णीत नहीं हो सकता। प्रतीयमानता सभी विषयों को व्याप्त करती है। केवल भावना के क्षेत्र में यह आकारिक प्रतीयमानता मात्र भी विषय को सार्थक सत्ता प्रदान कर सकती है। रंगमंच पर शकुन्तलादि की प्रतीति नाट्य के सन्दर्भ में किस प्रकार से भ्रान्ति कही जा सकती है? रंग-शाला के बाहर उसी अभिनेत्री में शकुन्तला-बुद्धि अवश्य भ्रान्त मानी जाएगी। उपासना के सन्दर्भ में प्रतिमा में विष्णु-बुद्धि की भी यही स्थिति है। शंकराचार्य ने कहा है कि यह आहार्य बुद्धि मानसिक क्रिया-रूप होने के कारण ज्ञान का उदाहरण नहीं मानी जा सकती। किन्तु यह अनुभवसिद्ध है कि भावना की परिणति प्रत्यक्ष में होती है। इस प्रत्यक्ष का विषय सत्य है अथवा असत्य, इस प्रश्न का निर्णय तद्विषयक व्यावहारिक प्रत्याशा की अपेक्षा करता है। स्वामी विवेकानन्द को काली के बालिकारूप में दर्शन हुए तो उन्होंने केवल उनकी प्रसन्नता ही चाही। किन्तु यदि किसी को कुर्सी का प्रत्यक्ष हो तो उससे यह व्यावहारिक प्रत्याशा होगी कि वह बैठने के शारीरिक व्यवहार के अनुकूल हो। विषय चाहे मानसिक हो अथवा भौतिक, ऐन्द्रिय अथवा अतीन्द्रिय, वह ज्ञान में अविनाभूत प्रदत्त के रूप में रहता है किन्तु उसकी सत्ता अथवा असत्ता व्यावहारिक साधकता-बाधकता के आधार पर अध्यवसेय रहती है। शारीरिक व्यवहार के सन्दर्भ में ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष एवं तदाश्रित अनुमान के सहारे भौतिक पदार्थों की सत्ता अथवा असत्ता का अध्यवसाय होता है। वैज्ञानिक प्रत्यक्षवादी तो सत्य ज्ञान एवं द्रव्य-सत्ता का क्षेत्र यहीं तक सीमित रखते हैं। जो अभौतिक द्रव्यों की सत्ता मानते हैं उन्हें भी साक्षात् या परम्परया इन द्रव्यों में शारीरिक क्रियाओं से सम्बन्ध की शक्ति माननी पड़ती है। आत्मा अथवा चित्त का कम से कम ज्ञान से सम्बन्ध जोड़ना पड़ता है जिसकी परीक्षा व्यावहारिक

अविसंवादकता से सभी करते हैं। यह स्पष्ट है कि सत्ता न तो किसी धर्मी का स्वरूपगत धर्म है न स्वयं एक स्वतन्त्र धर्म। ज्ञान में भासमान वस्तुस्वरूप और व्यावहारिक अपेक्षा का आनुरूप्य-सम्बन्ध ही सत्ता है। उसे अर्थक्रियाकारिता, कारित्र, अविसंवादकता, व्यावहारिकता आदि की संज्ञा दी जाती रही है। किसी भी सन्दर्भ में सद्विषय उस संदर्भ में व्यवहार-योग्यता से ही जांचा जा सकता है। उदाहरणार्थ शारीरिक सन्दर्भ में भौतिक द्रव्य सद्विषय हैं, सांस्कृतिक सन्दर्भ में संकेत, तार्किक सन्दर्भ में लक्षण, धार्मिक सन्दर्भ में देवता।

सभी ज्ञान के सविषयक होने पर भी सद्विषयक ज्ञान को सत्य और असद्विषयक ज्ञान को मिथ्या कहा जाता है। जलाहरण के व्यवहार के सन्दर्भ में घट की नीरन्ध्रता का प्रत्यक्ष अभ्रान्त माना जाएगा किन्तु अग्नि के सम्पर्क से उत्पन्न अणु-विचलन के सन्दर्भ में उस प्रतीति को भ्रान्त ही मानना होगा। कपड़े धोने के सन्दर्भ में नदी-जल की स्वच्छता की प्रतीति अभ्रान्त ही है यद्यपि जलपान के सन्दर्भ में यह प्रतीति पर्याप्त रूप से प्रामाणिक नहीं है।

यद्यपि ज्ञान आवश्यक रूप से सविषयक होता है, वह कम से कम आपाततः अपने विषय को नहीं रचता बल्कि उसका आलम्बन अथवा अन्तर्वस्तु विषय से निर्धारित होती है। इस प्रकार की स्वालम्बन ज्ञान-जनकता को विषय की स्वरूपता कहा जा सकता है। उसे स्वरूप की न्यूनतम शक्ति अथवा सत्ता का न्यूनतम रूप कहा जाना चाहिए। जहां शारीरिक व्यवहार के सन्दर्भ में प्रत्यक्ष से अविसंवादी निर्देशन की अपेक्षा की जाती है वहां यह मात्र प्रतीयमानत्वरूप सत्ता प्रातिभासिक कही जाकर तिरस्कार के योग्य भी हो सकती है। किन्तु यह बात जागरित-काल के स्थूलाभिमानी प्रमाता के लिये ही सही है। स्वप्न के मनोमय प्रमाता के लिये प्रातीतिक विषय किस प्रकार असत्य कहे जाएगे? यद्यपि जागरित के सन्दर्भ में ज्ञान को वस्तु-तंत्र माना जाता है, यह निर्विवाद है कि जागरित कालिक ज्ञान मानसिक क्रिया-पुरस्सर होता है और उसके विषयावधारण में रचना का निश्चित अंश रहता है। जहां यह रचनांश नैसर्गिक और नियत होता है वहां विदित और आवश्यक होने पर तो उसका समाधान कर लिया जाता है, जैसे प्रत्यक्षगत अनिवार्य भ्रान्तियों में, किन्तु अन्य स्थलों में, जहां यह रचनांश अविदित रूप से नियत प्रतिभासों में व्यक्त होता है वहां स्वयं व्यवहार का आधार होने के कारण नैसर्गिक विकल्प-गर्भ होते हुए भी ये प्रतिभास सत्य माने जाते हैं। दैशिक स्थूलत्व, कालिक अनुवृत्ति, द्रव्य, गुण, कर्म आदि विकल्पों से विशेषित वस्तुओं का जगत् व्यावहारिक होते हुए भी वस्तुतः प्रातिभासिक ही है क्योंकि वे एक विशिष्ट प्रकार के प्रमातृत्व के सन्दर्भ में ही सत्तालाभ करते हैं। जागरित के प्रसिद्ध लक्षणों और रूपों से प्रतीयमानयतया युक्त होकर उन विषयों के मानस प्रतिबिम्ब स्वप्न-चेतना के लिए यथार्थ बन जाते हैं, चैतन्य के सन्दर्भ-भेद से वही प्रतिभास यथार्थ अथवा अयथार्थ हो जाते हैं। अन्ततः चैतन्य अथवा ज्ञान-व्यवहार के सन्दर्भों की प्रासंगिकता स्वयं चेतना के स्थायी आत्मस्वरूप के सन्दर्भ में ही निर्णीत होनी चाहिए। साक्षिभूत चेतन के लिए जागरित और स्वप्न के विषय प्रत्ययमात्र सिद्ध होते हैं जोकि सुषुप्ति में विलीन हो जाते हैं। द्रष्टा के लिए निस्सार प्रत्ययमात्र होने के कारण ही जगत् का दृश्यत्व उसके मिथ्यात्व का प्रधान साधक है। विषयत्व, जड़त्व, परिच्छिन्नत्व आदि इसी के द्वार से मिथ्यात्व से व्याप्त होते हैं।

यदि साक्षिता चैतन्य का स्वरूप है तो वही आत्मा का नित्य स्वरूप सिद्ध होता है। इस नित्य स्वरूप के सन्दर्भ में अनित्य प्रतीतिरूप विषय सत् अथवा असत् नहीं कहे जा सकते, क्योंकि केवल प्रतीति का सन्दर्भ इस निर्णय के लिये अपर्याप्त है। अलबत्ता इस नित्य स्वरूप के साधक के लिये समस्त विषय-जगत् मिथ्या कहा जा सकता है क्योंकि उससे मुक्ति की साधना में अन्ततः वह उपेक्ष्य रहता है। किन्तु आत्मा को चैतन्य-मात्र और चैतन्य के नित्य-स्वरूप का साक्षित्वमात्र मानकर तो मुक्ति की अवस्था में वेदान्त-सम्मत आत्मा भी सांख्य-पुरुष के समान आत्मबोध से भी मुक्त हो जाएगी और मुक्ति सचमुच महासुषुप्ति से अभेद्य हो जाएगी। यदि यह कहा जाय कि मुक्ति में सुषुप्ति का अविद्यान्धकार न रहेगा तो यह बताना होगा कि इससे साक्षी में क्या अतिशय आएगा अथवा वह किस दोष से मुक्त होगा। यदि जीवनमुक्ति व विश्वात्मबोध ही लुप्त हो जाएगा तो ब्रह्मात्मभाव भी न रहेगा। इस प्रकार की मुक्त आत्मा को अनेक बृहत् सत्य के अनुसन्धाताओं ने उपेक्ष्य समझा है। वस्तुतः अविद्या के विगलन मे विषयावरण ही नहीं हटता बल्कि आत्मस्वरूप भी उन्मीलित होता है। साक्षिता उसकी न्यूनतम कला है जो कभी भी निमीलित नहीं होती, किन्तु वह पूर्ण आत्मस्वरूप नहीं है। आत्मा का अविद्यामुक्त स्वरूप ब्रह्म की पूर्णता के अतिरिक्त क्या हो सकता है? आत्मभाव न्यूनतम-शक्तिक साक्षिता न होकर अनन्तशक्तिक होना चाहिए, जिसे भूमा या पूर्ण कहा गया है। साक्षित्व में प्रतिष्ठित होने की साधना में जो विश्व मिथ्या प्रतीत होता है उसे ज्ञानी की दृष्टि में आत्मभूत, ब्रह्मभूत ही प्रतीत होना चाहिए।

इस प्रकार साधना की दृष्टि से मिथ्यात्व की भावना अद्वैत मार्ग में एक पड़ाव भर हो सकती है। व्यावहारिक सत्य का बाधक न होने कारण और परमार्थ में सत् का और असत् का विरोध न होने के कारण तर्क की दृष्टि से मिथ्यात्व का प्रत्यय केवल भेदवादी दृष्टि के मन पर सहजप्रभाव के परिहार के लिये उपयोगी है।

11, बलरामपुर हाउस
इलाहाबाद–211002

उन्मीलन : वर्ष ४, अंक १
जनवरी, १९८८

2

तत्त्वमीमांसा और उसका औचित्य*

यशदेव शल्य

तत्त्वमीमांसा के औचित्य में सन्देह का प्रश्न आधुनिक पश्चिम में उठा और वहां से हमने भी वह अपना लिया। पश्चिम में 'तत्त्वमीमांसा' का पर्यायवाची शब्द "मेटा-फिज़िक्स"—अतिभौतिकी—है जिसका प्रथम प्रयोग अरस्तु ने किया था। आधुनिक युग के आरंभ में ह्यूम, कोंत और कांट ने इसे बौद्धिक कल्पनामूलक सत्ताओं का क्षेत्र कहकर इसके अनौचित्य का प्रतिपादन किया था। कांट ने इस प्रतिपादन को अधिक सुनिबद्ध व्यवस्थित आधार दिया, जो आधार कठोरतम आग्रह के साथ समकालीन पश्चिम के अनुभववादी-वैज्ञानिकतावादी दार्शनिकों के द्वारा उद्घोषित किया गया। ऐसा नहीं है कि अतिभौतिकी या परतत्त्वविद्या के औचित्य का प्रत्याख्यान हमारी परंपरा में कभी हुआ ही नहीं हो, चार्वाकों और कुछ बौद्धों ने यह स्पष्टतः ही किया है, किन्तु यहां इसे कभी धार्मिक जेहाद का रूप नहीं दिया गया, बल्कि इसे तत्त्वमीमांसा के ही रूप में देखा गया। तो भी, चार्वाकों के द्वारा प्रत्यक्षगम्य के अतिरिक्त अन्य सब वस्तुओं की सत्ता का अस्वीकार और बौद्धों द्वारा चित्तवृत्ति की सन्तान के परे या उसके आधार में, तथा रूप-स्कन्ध या भौतिक क्षणसंतान के आधार में किसी वस्तु के अस्तित्व का निषेध कांट और ह्यूम के अनुरूप दृष्टि के द्योतक हैं। किन्तु उपनिषद् का यह कथन कि "यह सब, जो कुछ भी है, ब्रह्म ही है," अथवा "यह सब आत्मा है" बौद्धों द्वारा या कांट द्वारा विचारित और निषिद्ध तत्त्व की कोटि में नहीं आते, क्योंकि यह ब्रह्म या आत्मा इस लोक के समानान्तर किसी अन्य लोक में कल्पित वस्तुएं नहीं हैं। निश्चय ही बुद्ध से किये गये प्रश्न में कि "आत्मा का अस्तित्व है या नहीं" "आत्मा" शब्द उसी प्रकार वस्तुवाचक है जिस प्रकार "साथ के कमरे में मेज़ है या नहीं ?" किन्तु "सब का तत्त्व ब्रह्म है" में "ब्रह्म" शब्द इस प्रकार का नहीं है, यह उन्हीं वस्तुओं के स्वरूप

* भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद् के लखनऊ केन्द्र में 22.9.88 को दिया गया व्याख्यान।

के सम्बन्ध में कथन है जो वस्तुएं इस लोक में प्रस्तुत और लौकिक अनुभवगम्य हैं। इनका स्वरूप ब्रह्म कहने पर वस्तुएं वही की वही और ज्यों की त्यों रहती हैं और इनकी संख्या में भी कोई वृद्धि नहीं होती। इस पर कहा जा सकता है कि "यह अन्य लोक-विषयक वस्तु-कल्पना चाहे नहीं हो किन्तु यह ऐसी कल्पना अवश्य है जिसकी सत्यता या असत्यता के सम्बन्ध में कोई प्रमाण नहीं दिया जा सकता। उदाहरणतः सब वस्तुओं का तत्त्व एक ब्रह्म ही है, या दो अथवा तीन तत्त्व हैं, ये सब जगत् के स्वरूप-विषयक कल्पनाएं हैं और इनमें से कौन कल्पना युक्त है और कौनसी अयुक्त, इसके निर्णय के लिये कोई प्रमाण नहीं हो सकता।"

इस आपत्ति के दो उत्तर दिये जा सकते हैं: एक यह कि, कौन से दार्शनिक प्रतिपादन के लिये उस प्रकार का कोई प्रमाण दिया जा सकता है जिस प्रकार के प्रमाण की यहां मांग की जा रही है? पाश्चात्य तार्किक प्रत्यक्षवादी दार्शनिकों के प्रमाणीकरण-सिद्धान्त के प्रमाणीकरण की असंभवता का स्वयं उनके द्वारा स्वीकार यहां दृष्टान्त के रूप में उल्लेखनीय है। किन्तु दूसरा और अधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि इस सन्दर्भ में "प्रमाण" से आप का क्या आशय है? आपने "यह घर है" इस वाक्य की प्रमाणीकरण-विधि को प्रमाणीकरण का मानदंड बना लिया, किन्तु यह मानदंड अन्यत्र लागू कहां होता है? "यह काव्यकृति है या नहीं?" इसके सत्यापन के लिये कौनसी विधि है? "अमुक कर्म नैतिक है या नहीं?" इसका प्रमाणीकरण कौनसी विधि से होता है? इन्हें न तो प्रत्यक्ष से प्रमाणित किया जा सकता है, न परिभाषा और निगमन से। किन्तु इनके लिए कुछ दूसरे प्रकार के प्रमाण हैं: प्रथम के लिए सहृदयता प्रमाण होती है और दूसरे में कर्त्ता की अन्तःकरण-प्रवृत्ति प्रमाण होती है[1]। अब ये दोनों प्रमाण उस कोटि में नहीं आते जिनकी चर्चा ये दार्शनिक करते हैं, किन्तु इसीलिए ये अयुक्त नहीं हो जाते और न इनके प्रमेय प्रमेय होने के अयोग्य हो जाते हैं। वास्तव में दर्शन के लिए यह प्रश्न अधिक महत्त्वपूर्ण है कि किस प्रकार सहृदयता और अन्तःकरण- प्रवृत्ति वैज्ञानिक विधि-विषयक नहीं होने पर भी युक्त प्रमाण होते हैं। अब ये दोनों प्रमाण चित्त के उस स्वरूप में प्रतिष्ठित होते हैं जिसमें आत्मसाक्षात्कार ही वस्तु-प्रापक होता है। इसके आत्मसाक्षात्कारात्मक होने का अर्थ इसका व्यक्तिनिष्ठ होना नहीं है, क्योंकि व्यक्तिनिष्ठता अहंकारमूलकता है जबकि आत्मसाक्षात्कार का तत्त्व अहंकारातिक्रमण होता है। यही कारण है कि ऐसा व्यक्ति इस प्रकार के निर्णयों में अन्यों के लिए प्रमाण होता है। यहां यह देखना भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है कि ये प्रमाण भी उसी प्रकार भ्रान्त या अभ्रान्त होते हैं जिस प्रकार भौतिक वस्तु-विषयक अथवा वैज्ञानिक ज्ञान-विषयक प्रमाण होते हैं।

किन्तु तत्त्वमीमांसा के लिए यहां एक और प्रश्न मौलिक महत्त्व का है और वह यह कि कर्मों के उचित या अनुचित होने के निर्णय का आधार क्या होता है, यह मूल्यांकन या निर्णय किस प्रकार के मूल्य-बोध में प्रतिष्ठित है, और यह मूल्य-बोध किस तथ्य पर आधारित है? वास्तव में इस प्रश्न का क्षेत्र नैतिक कर्म तक ही नहीं कर्म मात्र तक व्यापक है: मनुष्य क्यों कर्म करता है? अब कर्म का बाह्य आयाम अभूत को आविर्भूत करना है, और अधिक गहरे जाकर यह भी कह सकते हैं कि यह सत् को जन्म देना है, जो सत् बाह्य के साथ आध्यात्मिक

1. सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरण प्रवृत्तयः (कालिदासकृत अभिज्ञान शाकुंतलम्)

का भी समावेश करता है। यहां कर्त्ता अपने तत्त्व को सर्जित और आविर्भूत करता है, उसे विपुल बनाता है। इस प्रकार कर्म का तत्त्व आन्तर-बाह्य का क्रियान्वयन, आंतर और बाह्य के अभाव का निवारण करना है। कर्म में आन्तर और बाह्य की यह समानांतरता वास्तव में बाह्य के आन्तर का प्रसार होने की ही द्योतक होती है। कर्म के स्वरूप के इस निरूपण का औचित्य इस बात से स्पष्ट है कि प्रत्येक कृति मूल्यांकन का विषय होती है, अर्थात् वह किसी मानदंड से थोड़ी या अधिक न्यून होती है, जिसका अर्थ है कि कर्म उस अलौकिक मानदंड को लोकावतरित करने का प्रयत्न होता है जो मानदंड वास्तव में कर्त्ता द्वारा अपने अर्थ या तत्त्व के रूप में कल्पित होता है। कला-कर्म या दर्शन-कर्म में तो इस कथन का औचित्य प्रायः स्पष्ट ही है; घट, छायाचित्र या यंत्र आदि में भी इस कथन की सत्यता तब देखी जा सकती है, जब ये उत्कृष्ट या निकृष्ट, अथवा इनके मध्यवर्ती के रूप में देखे-परखे जाते हैं : यह मूल्यांकन अन्ततः कर्त्ता के कौशल का, अथवा कुशल कर्त्ता की उस क्रिया में सफलता-असफलता का होता है और प्रत्येक सफलता कर्त्ता के लिए सन्तोषप्रद होती है। उद्योगवाद-पूंजीवाद पर यह आरोप है कि यह श्रमिक में आत्म-परायापन, आत्म-विलगाव की मानसिकता उत्पन्न करता है। वास्तव में इस आत्म-परायेपन का यही कारण है कि इसमें कर्त्ता कर्म में अपने को घटित होते नहीं पाता, उसका कर्म उसका आत्म-क्रियान्वयन नहीं होता।

कर्त्ता के इस आत्म-क्रियान्वयन का क्या अर्थ है ? इसका न्यूनतम अर्थ यह है कि कर्त्ता अपने अस्तित्व में आत्म-अपर्याप्त, आत्म-अभावापन्न है, अथवा कहें वह अपने अस्तित्व में अपने स्वरूप के चरितार्थन में असफल, अपने-आप में अपने मानदंड से न्यून है, वह कम से कम अंशतः वह है जो वह नहीं है।

अब, यदि हम इस निरूपण को स्वीकार करते हैं तो इसका अर्थ है कि हम तत्त्व-मीमांसा के पानी में बहुत गहरे उतरने को तैयार हैं, क्योंकि यह मनुष्य की सम्यक्ता के मानदंड का, मनुष्य के स्वरूप का प्रश्न है और इस प्रश्न में मनुष्य का संवेदगम्य प्रदत्त रूप पहले ही बहुत पीछे छूट गया रहता है।

किन्तु वास्तव में स्वरूप का प्रश्न केवल मनुष्य के सम्बन्ध में ही नहीं किया जा सकता, यह वस्तुमात्र के सम्बन्ध में किया जा सकता है। कोई आपत्ति कर सकता है कि इस पुस्तक या उस मेज के सम्बन्ध में आप स्वरूपविषयक क्या प्रश्न कर सकते हैं ? किन्तु यह आपत्ति ठीक नहीं है। इनके सम्बन्ध में भी यह प्रश्न उतना ही प्रासंगिक है जितना मनुष्य के सम्बन्ध में, केवल मनुष्य के सम्बन्ध में यह प्रश्न पुस्तकादि के सम्बन्ध में इस प्रश्न की तुलना में असीमतः अधिक गंभीर और गुह्य होता है। किन्तु तब भी, पुस्तकादि-विषयक प्रश्न भी उतने सतही नहीं हैं जितने दार्शनिकों ने सामान्यतः बना रखे हैं। आप जानते ही हैं कि भारतीय दर्शन में घट और पट का उदाहरण भौतिक विषय के रूप में दिया जाता रहा है। किन्तु हमने अन्यत्र[2] दिखाया है कि इन्हें भौतिक वस्तुओं के उदाहरणों के रूप में प्रस्तुत करना

2. द्रष्टव्य "मनुष्य और जगत्" अ. 1, इन्दु प्रकाशन, दिल्ली 1987 तथा "सत्ता विषयक अन्वीक्षा," अ. 2-3, भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद् 1987.

अयुक्त है क्योंकि ये मनुष्यकृत सृजन हैं और कृतियों के रूप में इनका तत्त्व प्रस्तर-खंड के तत्त्व से मूलतः भिन्न प्रकार का हो जाता है। यह स्वरूप और यह स्वरूप-भेद संवेदगम्य नहीं है और कृतियों के रूप में इनका स्वरूप किसी भी प्रकार संवेद के द्वारा, अथवा तथाकथित वैज्ञानिक विधि के द्वारा भी, प्रमाणीकरणीय नहीं है। जो संवेद या वैज्ञानिक विधि के द्वारा प्रमाणीकरणीय है भी स्वयं उसके भी इस स्वरूप का निर्धारण संवेद-विषयक या वैज्ञानिक विधि-विषयक नहीं होता। यह चित्त द्वारा युगपद् रूप से साक्षाकारात्मक और सृजनात्मक होता है। यहां "साक्षात्कार" शब्द अपेक्षाकृत अधिक गुरु, अधिक भारी प्रतीत हो सकता है, किन्तु वास्तव में किसी भी वस्तु का तत्त्व प्रथमतः साक्षात्कृत और अनन्तर विमृष्ट होता है। यहां किसी वस्तु को एक-साथ सृष्ट और साक्षात्कार्य कहने पर भी संदेह हो सकता है, किन्तु वास्तव में यह सन्देह-योग्य नहीं है। प्रत्येक सर्जन आद्यतः साक्षात्कृत तत्त्व का ही क्रियान्वयन होता है: घट घटत्व के और मूर्त्ति मूर्त्तकृत व्यक्ति या वस्तु की आत्मा के साक्षात्कार का ही क्रियान्वयन होते हैं, यह बात दूसरी है कि घट आदि वस्तुओं की रचना कुम्हार के साथ अभ्यास मात्र हो जाती है और उसकी प्रेरणा अगली सुबह की आजीविका का अर्जन। किन्तु उत्तम मूर्तिकार के साथ ऐसी बात नहीं होती। इसका अर्थ है कि जो कोई जितना ही अपनी चेतना में प्रबुद्ध होता है वह उतना ही वस्तु के स्वरूप में गहरा पैठ पाता है। सच पूछें तो, किसी वस्तु के स्वरूप के कितने आयाम हैं यह हम वहीं तक देख पाते हैं और उनमें उतनी ही गहराई से पैठ पाते हैं जितनी हमारी चेतना प्रबुद्ध या संवेदनशील होती है। उदाहरणतः कवि, चित्रकार, या उपन्यासकार वस्तुस्वरूप के उनसे सर्वथा भिन्न आयामों का साक्षात्कार करते हैं जिन आयामों का एक वैज्ञानिक, एक दार्शनिक अथवा एक जन-साधारण अपने-अपने पक्ष में करते हैं।

यहां आप लोग आपत्ति करेंगे कि कवि या चित्रकार वस्तु-स्वरूप को नहीं देखता बल्कि वस्तुविषयक अपनी भावना को प्रकट करता है। किंतु यह सही नहीं है, वह या तो भावना के तत्त्व का उसमें अवस्थित होकर अवगाहन करता है अथवा भावना में प्रकाशित वस्तु के तत्त्व का अवगाहन करता है। उदाहरणतः मीरा का काव्य प्रथम श्रेणी में आता है और कालीदास का दूसरी में: उपन्यास में दूसरी श्रेणी के गुण और अधिक होते हैं और किसी दृश्य के चित्रण में ये अधिकतम होते हैं।

इसके विरोध में कहा जा सकता है कि कवि, कथाकार या चित्रकार के निरूपण व्यक्तिनिष्ठ और इस प्रकार विषयिनिष्ठ होते हैं और यह बात इसका प्रमाण है कि इनके निरूपण वस्तु-विषयक नहीं होते। किन्तु यह बात सही नहीं है, कवि या चित्रकार के निरूपण उसी अर्थ में व्यक्तिनिष्ठ होते हैं जिस अर्थ में दार्शनिक, समाजशास्त्री या सिद्धान्त वैज्ञानिक के होते हैं। इनके निरूपणों में भी हम विचार की मौलिकता को ही महत्त्व देते हैं, उसकी अनुवृत्ति को नहीं। अब विचार की यह मौलिकता उसकी आहंकारिकता के अर्थ में व्यक्तिमूलक नहीं होती बल्कि चेतना की वस्तु-ग्राहकता और इस प्रकार अहंकारातीत शुभ्रता के एक नये स्तर की सिद्धि के अर्थ में ही वह व्यक्तिमूलक होती है। दूसरे शब्दों में, वस्तु-साक्षात्कारात्मक प्रतिभा का ही नामान्तर मौलिकता है और यह जितना दार्शनिक या वैज्ञानिक के लिये सत्य होता है उतना ही कवि के लिये भी होता है और इसमें प्रत्येक व्यक्ति की

योग्यता अन्यों से भिन्न या समान होती है। यहां ईशोपनिषद् का अत्यन्त अर्थगर्भित एक मंत्र उल्लेखनीय है : कविर्मनीषी, परिभू, स्वयंभू, याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात शाश्वतीभ्य: समाभ्यः। इसमें ईश्वर-तत्त्व को समान रूप से कवि और मनीषी कहा गया है और उसे वस्तुओं को उनके स्वरूप में प्रतिष्ठित करने वाला कहा गया है। 'कवि' शब्द का अर्थ वेद में वस्तु-स्वभाव का साक्षात्कर्त्ता है और इसी के अनुसार श्री अरविन्द ने इसका अनुवाद अंग्रेज़ी में "सीअर" किया है। "मनीषी" का अर्थ श्री अरविन्द ने "विचारक" किया है और यह कवि "स्वयंभू" अर्थात् आत्मसर्जक और अपूर्वकृत भी होता है। इस प्रकार वह वस्तु-स्वभाव का ही नहीं अपने स्वभाव का भी सर्जक होता है। अब यहां प्रश्न हो सकता है कि ऐसा मनीषी जो वस्तु-सर्जक है वह वस्तु-द्रष्टा कैसे हो सकता है ? यह कैसे हो सकता है, यह देखने के लिए विक्षिप्त और कला-सर्जक या दार्शनिक में अन्तर देखना उपयोगी हो सकता है : इनमें यही अन्तर है कि एक आत्म-विस्थापित सर्जक है और दूसरा आत्मस्थ, आत्म-नियामक और आत्मोन्मुख सर्जक; ऐसा चेता जो सत् के अव्यवहित सान्निध्य में है।

यहां आपका ध्यान इस तथ्य की ओर आकर्षित करना उपयुक्त होगा कि आधुनिक पाश्चात्य अनुभववाद वैज्ञानिक निरूपणों को व्यवहार-सौकर्य से प्रमाणित प्राक्कल्पनाओं के रूप में देखता है। इसका अर्थ है कि इस मत के अनुसार विज्ञान का उद्देश्य या साध्य वस्तु-दर्शन नहीं व्यवहार-सौकर्य है। यदि हम इस मान्यता को थोड़ा गहराई से देखें तो पायेंगे कि इसमें वस्तु-स्वरूप-विषयक एक अनालोचित पूर्वाग्रह है, और वह यह कि वस्तु स्वरूपत: चक्षुरिन्द्रियगम्य प्रकार की है इसलिये उसके ज्ञान का केवल यही एक उपकरण है, अथवा अधिक से अधिक केवल पांचों इन्द्रियां ही इसकी उपकरण हैं। किन्तु तब ये लोग पाते हैं कि ये उपकरण वस्तु की सतह का स्पर्श नहीं कर सकते और परिणामतः इनके अनुसार वस्तु अविज्ञेय बनी रहती है। ह्यूम और कांट दोनों में यह पूर्वमान्यता देखी जा सकती है और जी.ई. मूर तथा सी.डी. ब्रॉड संवेद-प्रदत्तों द्वारा वस्तु-तल-स्पर्श के प्रश्न पर विचार करते मिलते हैं, बर्ट्रेंड रसल प्रभृति वस्तुओं को तार्किक रचना (लॉजीकल कंस्ट्रक्शन्स) कहकर प्रमाण-प्रमेय के बीच की इस खाई के उस पार को अस्वीकार करके इस खाई को समाप्त करते मिलते हैं, और तार्किक प्रत्यक्षवादी (लॉजीकल पॉज़िटिविस्ट) विषय के रूप में संवेद या वस्तु में से किसे स्वीकार किया जाय इस प्रश्न को पदावली के बीच चुनाव का प्रश्न बताकर इससे मुक्ति पाने का प्रयत्न करते दिखायी देते हैं। विज्ञान को व्यवहार-सौकर्यमूलक ज्ञान-व्यवस्था कहने के पीछे इसी प्रकार की दार्शनिक मान्यता क्रियाशील दिखायी देती है। किन्तु दर्शन की इतिकर्तव्यता इन सब चर्चाओं तक सीमित कर देने में दार्शनिक विमर्श का क्षेत्र क्या अत्यन्त सीमित और अत्यन्त सतही नहीं रह जाता ? और तब उस सीमा में भी स्वरूपतः ही पथ-भ्रष्ट ? प्रमाण-विचार की दृष्टि से यह सिद्धान्त इस सिद्धान्त से किस प्रकार भिन्न है कि "एकमात्र सत् तत्त्व ईश्वर ही है और वह आध्यात्मिक अनुभूतिगम्य है", सिवाय इस बात के कि यह तत्त्व इस सिद्धान्त के अनुसार अपने प्रमाण के लिए अगम्य नहीं है ? किन्तु द्रष्टव्य है कि जबकि यह सिद्धान्त ज्ञान-विषयक तार्किक दृष्टि से इस सिद्धान्त से मूलतः भिन्न नहीं है यह इस सिद्धान्त से कहीं अधिक अर्थ-विपुल, कहीं अधिक व्यापक और गम्भीर है, क्योंकि इसका प्रस्थान-बिन्दु ही मानव-पर्येषणा, मानव-अभीप्सा, मनुष्य की

अपने और जगत् के अस्तित्व की सार्थकता की जिज्ञासा है। इन्द्रियमूलक सिद्धान्त की विपन्नता इस बात में है कि चित्त की वृत्तियों में इन्द्रिय केवल विषय के रूपात्मक पक्ष तक ही सीमित रहती है और इस रूप के भी केवल सद्यः प्रदत्त क्षण तक। चित्रकार, संगीतकार, कवि और शिल्पी इस रूप को व्यंजक और प्रतीक बनाकर जो अर्थों का साक्षात्कार करते हैं, भक्त जो इसमें ईश्वर-तत्त्व की व्यंजना देखता है, वे सब आयाम इस सिद्धान्त-दृष्टि के लिये अगम्य हैं।

अवश्य दर्शन के इतिहास में बहुत से दार्शनिक ऐसे प्रतिपादन भी करते रहे हैं जो अलौकिक या पारलौकिक वस्तु-विषयक हैं और वैसा वे ऐसे अनुमानों के आधार पर करते रहे हैं जिनके लिए उनके पास कोई आधार नहीं होते थे। उदाहरण के लिए यहां कर्म-फल का सिद्धान्त, वैयक्तिक ईश्वर तथा आत्मा के अस्तित्व आदि के प्रतिपादक सिद्धान्त दिखाये जा सकते हैं। तार्किक निगमन के आधार पर ईश्वर के अनिवार्य सत्ता के रूप में अस्तित्व का सिद्धान्त भिन्न प्रकार का होने पर भी इसके अन्तर्गत ही गणनीय है, यद्यपि उसमें यह दुहरी भ्रांति है कि उसमें एक तो निगमन को सिद्ध सत्य के रूप में लिया गया है और दूसरे निगमन के निष्कर्ष को वस्तुगत अस्तित्व के रूप में स्थापित किया गया है। इन सिद्धान्तों का दोष अपने प्रतिपाद्यों को भौतिक वस्तु की अनुरूपता में कल्पित करने में है, किन्तु इन दोषों के कारण सत् को इन्द्रियगम्य तक सीमित करने का औचित्य सिद्ध नहीं होता। वास्तव में यह परिसीमन भी उसी प्रकार की भ्रांत तत्त्वमीमांसा का ही एक रूप है, क्योंकि यदि इन्द्रिय-प्रदत्तों से भौतिक वस्तु के अस्तित्व का अनुमान युक्त है तो अन्य विधियों मे ईश्वर, आत्मा और कर्म-फल-परंपरा का अनुमान भी युक्त है; यदि भौतिक वस्तु संवेद-प्रदत्तों से तार्किक संरचना और इस प्रकार संवेदोपादन से उपादेय है तो ईश्वर को भी ईश्वरानुभव से उपादेय कहा जा सकता है। किन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि भौतिक वस्तु को बौद्धिक कल्पना-रूप में अपचित करके आप पाते क्या हैं? क्या यह पूर्ण नास्तिक्यवाद (निहिलिज्म) से भी अधिक विपन्न सिद्धान्त नहीं हो जाता? क्योंकि नास्तिक्यवाद आख़िर जीवन की निरर्थकता के बोध से उत्पन्न होता है और इस प्रकार इसका विषय जीवन और जगत् की सार्थकता का प्रश्न होता है। यदि आप कहें कि ये प्रश्न दर्शन के लिए अप-प्रश्न हैं, इनका स्रोत भावुकता है और इनका समाधान किसी प्रकार के ज्ञानात्मक प्रमाणों के आधार पर नहीं किया जा सकता, तो यह ज्ञान और प्रमाण के सम्बन्ध में और इस प्रकार वस्तु और सत् के सम्बन्ध में पूर्वाग्रह मात्र ही कहा जा सकता है, युक्तियुक्त विचार नहीं। जीवन और जगत् के अस्तित्व के प्रश्न से उसके अर्थ और उसकी सार्थकता का प्रश्न कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण हैं और दर्शन के लिए वास्तव में यही मुख्य प्रश्न हो सकता है। वास्तव में स्वरूप-विषयक प्रश्न अस्तित्व और अर्थ दोनों को अपने में अवियोज्य रूप से समाहित करता है। वस्तुओं का अस्तित्व है या नहीं, इस प्रश्न की विचारणीयता भ्रम के आकलन की दृष्टि से है: जिसे कभी-कभी हम "है" समझते हैं उसके कभी-कभी "नहीं है" निकल आने के कारण। किन्तु तब जीवन की मृत्यु में पर्यन्तता, मेरे होने के एक तथ्य की मेरे नहीं हुए होने अथवा अन्यथा हुए होने की असंख्य संभावनाओं के बीच अवस्थिति, क्या इनके आकलन की कोई आवश्यकता नहीं है? निश्चय ही अधिकांश को इसकी कोई आवश्यकता दिखायी नहीं देती, किन्तु कुछेक को यह दिखायी देती है और जिन्हें यह दिखाई देती है वे इसके

समाधान की मांग की उद्विग्नता से अपने को मुक्त नहीं कर सकते। जिन्हें यह दृष्टि होती है और जिन्हें यह नहीं होती उनमें अन्तर का निरूपण कबीर ने निम्न पद में बहुत व्यंजक रूप में किया है :

सुखिया सब संसार, खावै औ सोवै,
दुखिया दास कबीर, जागै औ रोवै।

भ्रम की संभावना वस्तु-विषयक हमारे ज्ञान को सन्देहास्पद बनाती है और इस प्रश्न के समाधान की अपेक्षा को जन्म देती है कि हम कैसे जानें कि हम जब समझते हैं कि हम जानते हैं तब वास्तव में जानते ही हैं, भ्रम में नहीं हैं ? किन्तु मृत्यु और परिवर्तन इससे कहीं गहरी और अनेक समस्याओं को जन्म देते हैं, ये स्वयं मेरे अस्तित्व और अन्वेषणों की सार्थकता को सन्देहास्पद बना देते हैं : जो है जब वह नहीं भी हो सकता था तब यह अस्तित्व कैसा है ? क्या इस आगन्तुक अस्तित्व को सत् कह सकते हैं ? और पुनः "नहीं होने" की असंख्य संभावनाओं के अन्तर्गर्भ ज्वालामुखी के ऊपर स्थित "यह है" क्या स्वयं से, अपने ही बल पर, अस्तित्व में अवस्थित रह सकता है ? इस ग्रह-नक्षत्र-मंडल में एक व्यवस्था है, अणु में परमाणुओं की व्यवस्था है, किन्तु क्या यह व्यवस्था गुरुत्वाकर्षण के बिना बनी रह सकती है ? और क्या यह गुरुत्वाकर्षण विकर्षण और बिखराब की असंख्य और निरन्तर संभावनाओं के बीच अवस्थित नहीं है ? इसी प्रकार, यह सुघड़-चटकीला शतदल क्या व्याधियों की असंख्य संभावनाओं और आगामी मुर्झाहट की अस्वस्थता को रोककर स्वस्थ, सुघड़ और चटकीला नहीं है ? यह वक्र पत्तियों और उदास रंगों वाला फूल और यह शिथिल और दुबला शिशु अस्वास्थ्य और आत्म-अप्रतिष्ठा की वास्तविकता को प्रदर्शित करते हैं। किन्तु इससे कहीं अधिक यह आत्म-अप्रतिष्ठा मनुष्य अपने भीतर और बाहर पाता है। अब वस्तुओं का यह सत्त्व अथवा याथातथ्य इस वस्तु-व्यवस्था के समानान्तर कोई दूसरी व्यवस्था नहीं है, यह प्रस्तुत वस्तु-व्यवस्था की ही प्रतिष्ठा है, जिसके बिना वस्तुओं का न कोई अर्थ है और न अस्तित्व। किन्तु इस वस्तु-व्यवस्था के सम्बन्ध में भी तत्त्वमीमांसा-विरोधी इन दार्शनिकों में कम भ्रांति नहीं है। निश्चय ही वस्तुत्व का आदर्श यह भौतिक जगत् ही है। किन्तु तब सब कुछ को वस्तु-रूप में कल्पित ही क्यों किया जाय ? भूत-तत्त्व वस्तुओं के अस्तित्व की एक अनिवार्य अपेक्षा हो सकता है किन्तु उनके स्वरूप की वह अपेक्षा नहीं है। और जहां तक अस्तित्व का प्रश्न है, भूत तत्त्व के अस्तित्व का पर्याय होने पर सब कुछ के लिए अस्तित्व को आवश्यक ही क्यों माना जाय ? और यदि आवश्यक मान ही लिया जाता है तब अस्तित्व को एक आयाम मात्र क्यों नहीं माना जाय ? वास्तव में किसी आयाम को अनिवार्य मानने के लिए युक्ति की अपेक्षा हो सकती है, आगन्तुक मानने के लिए नहीं। उदाहरण के लिए अध्यवसाय बौद्धिक चित्त का एक आयाम है, किन्तु यह उसका अनिवार्य आयाम नहीं है, क्योंकि कला-सर्जन की किसी भी विधा में यह घटित नहीं होता। यही बात अस्तित्व के लिए है। उदाहरणतः घटत्व के लिए मिट्टी, मनुष्यत्व के लिए मानव-देह और विचार के लिए संवेद अनिवार्य कहे जा सकते हैं, और इस प्रकार कहा जा सकता है कि यद्यपि अस्तित्व इनके स्वरूप का, विशेषतः पिछले दो के स्वरूप का, एक अत्यन्त गौण आयाम है किन्तु इनके लिए यह अनिवार्य है—अस्तित्व में घटित हुए बिना इनका स्वरूप भी कल्पनीय नहीं है : विचारित हुए बिना विचार और मनोदेह के बिना मनुष्यत्व कैसे हो सकता है ? किन्तु यह अकल्पनीयता

वास्तव में अस्तित्व को आधार में रखकर कल्पना करने के कारण है। वास्तव में हमारे विचार और कल्पनाओं के वस्तु-जगत् के निदर्श पर अभ्यस्त होने के कारण इससे भिन्न प्रकार से देखना हमारे लिए बहुत दुस्साध्य होता है, किन्तु यह निदर्श सब तत्त्वों के लिए युक्त निदर्श नहीं है। उदाहरणतः विचार को यदि हम विचारण के रूप में परिभाषित करते हैं तो विचार-विषय को उसमें अन्तर्भूत नहीं किया जा सकता, क्योंकि विचार को उसका विषय उससे कहीं अधिक अपूर्णतः अवगत होता है जितना प्रत्यक्ष को उसका विषय होता है; और पुनः, प्रत्यक्ष के अवगमन की अपूर्णता जबकि एक-स्तरीय होती है : हम एक बिन्दु और क्षण पर जबकि वस्तु के अनेक पक्षों में से एक का ग्रहण कर पाते हैं, शेष का ग्रहण स्थान-परिवर्तन से ग्राह्य होता है : विचार द्वारा विषय के अवगमन की अपूर्णता के दो आयाम होते हैं, एक संस्थानात्मक:दृष्टिकोणगत: और दूसरा गभीरात्मक। और विचार के संस्थानात्मक आयाम के भी पक्ष यहां असंख्य होते हैं और प्रत्येक पक्ष की अपनी गंभीरता होती है जो अनन्त होती है। अब, विचार-विषय के उन पक्षों का जो विचारित या विचार्यमान नहीं होते, अस्तित्व होता है या नहीं ? प्लेटो ने प्रत्ययों का अस्तित्व द्यु-लोक में कहा था, उसमें अस्तित्व की इस समस्या के समाधान का ही सरलीकरण है, किन्तु यदि इस प्रश्न पर थोड़ा गहराई से विचार करें तो हम पायेंगे कि प्रत्यक्ष विषयों में भी अस्तित्व का प्रश्न एक समस्या बन सकता है, क्योंकि यहां यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि विषय के जो पक्ष प्रत्यक्षगत नहीं हो रहे हैं उनका अस्तित्व है या नहीं ? निश्चय ही उनका अस्तित्व माने बिना विषय की बहुपक्षता समाप्त हो जाती है : इस दीवार के अप्रत्यक्षगत भागों का अस्तित्व नहीं मानने पर वे मात्र कल्पना हो जायेंगे, किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि उनका अस्तित्व है ही। वास्तव में प्रत्यक्ष विषयों को संरचना या विकल्प कहने में उनके अप्रत्यक्षगत पक्ष के अनस्तित्व की ही स्वीकृति है और इस प्रकार अस्तित्व की आदर्शभूत वस्तु के सत्त्व में भी अस्तित्व का स्थान गौण हो जाता है। इस प्रकार यह प्रश्न किये जाने पर कि बन्द कमरे में पड़ा मेज़ है या नहीं, बर्कले का उत्तर था कि "है" क्योंकि वह ईश्वर से प्रत्यक्षगत है, किन्तु वसुबन्धु का उत्तर था कि वह नहीं है, क्योंकि अविज्ञप्त विषय का अस्तित्व नहीं हो सकता, और रसल का उत्तर था कि मेज़ अपने सभी पक्षों में काल्पनिक है और उसकी कल्पना में ही उसका अस्तित्व भी एक अनिवार्य आयाम के रूप में उसमें अन्तर्भूत रहता है, अन्यथा उसका कोई वास्तव अस्तित्व नहीं है। यहां रोचक बात यह है कि अस्तित्व की इस अवधारणा के बावजूद कांट ईश्वर के अस्तित्व का ऐसे निषेध करते हैं जैसे उसे नेस्त-नाबूद कर रहे हों। किन्तु कांट इस प्रश्न पर कोई विचार नहीं करते कि अस्तित्व-विधायक वर्गणाओं का और शुद्ध रीज़न का अस्तित्व है या नहीं, और यदि नहीं है तो क्या उनका कोई सत्त्व है या नहीं ?

वास्तव में अस्तित्व-विषयक इस भ्रांति का इतिहास पश्चिम में बहुत पुराना है : एंस्लम और उसके अनन्तर डेकार्ट ने ईश्वर की पूर्णता के लिए उसके अस्तित्व को अनिवार्य कहा क्योंकि उन्होंने अस्तित्व को एक विधेय के रूप में देखा और पूर्ण में किसी विधेय की अविद्यमानता या अवटितता उसकी अपूर्णता की द्योतक होगी। कांट ने अस्तित्व को विधेय के पद से हटा कर अस्तित्व को वस्तुगत बना दिया और इस प्रकार ईश्वर को अवास्तविक सिद्ध कर दिया। किन्तु उसने यह नहीं देखा कि स्वयं वस्तुएं ही अपने अस्तित्व में अपनी

पूर्णता से न्यून होती हैं, अथवा अधिक उपयुक्त शब्दों में, वस्तु-स्वरूप अपनी अभिव्यक्ति के क्रम में भौतिक माध्यम का अवलंबन करता है और उसकी प्रत्येक अभिव्यक्ति अभिव्यंग्य स्वरूप से न्यून होती है। उत्कृष्टापकृष्टता-अभिव्यंजक वस्तुओं की असंख्यरूपता और एकरूप वस्तुओं में भी उत्कृष्टापकृष्टता के असंख्य स्तर इस बात के प्रमाण हैं। इस प्रकार अस्तित्व पूर्णता का इतर माध्यम में अपूर्णावतरण या असम्यक् अनुवाद होता है। अब यहां केवल एक ही सीढ़ी यह देखने के लिये और चढ़ने की आवश्यकता है कि केवल उसी का अस्तित्व हो सकता है जो अपने से न्यून हो सकता है, अपने में अनात्म को स्वीकार कर सकता है। ईश्वर वह नहीं कर सकता, इसलिए वह ऐसा सत् है जो अस्तित्व में घटित नहीं होता, क्योंकि वह अपने में अनात्म की अवस्थिति स्वीकार नहीं कर सकता। इस सत्य को भारतीय दार्शनिकों ने देखा था, जैसा कि विवर्तवाद और लीलावाद के सिद्धान्तों से स्पष्ट है। यह सत्य केनोपनिषद् के निम्न मंत्रों में अत्यन्त विदग्धता के साथ प्रस्तुत हुआ है :

> यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते...., यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतं...., यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यति...., यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदं श्रुतं...., यत् प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते, तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि, नेदं यदिदमुपासते। (1–4–81)

अर्थात्, जो वाणी के लिए अवाच्य है किन्तु जिसके कारण वाणी वचन-समर्थ होती है, जो मन के द्वारा मननीय है किन्तु जिसके कारण मन मनन कर पाता है..........उसे ही तू ब्रह्म जान। अर्थात् ब्रह्म अस्तित्व का आधार है, अस्तित्व उसी से है, किन्तु वह स्वयं अस्तित्व से अतीत है।

यहां हम अस्तित्व और सत्त्व के इस प्रसंग को छोड़कर विकल्प के दो महत्त्वपूर्ण पक्षों : विषयावगमन और विषय-सर्जनः पर विचार करेंगे। विषय :घटः हमें प्रदत्त होते हैं किन्तु वर्गणाएं या विकल्प किस प्रकार उपलब्ध होते हैं ? स्पष्टतः ये भी विषय ही होते हैं, किन्तु ये विषय-वृत्ति के प्रथम स्तर पर उपलब्ध नहीं होते बल्कि इस वृत्ति पर विचार के स्तर पर उपलब्ध होते हैं। किन्तु विषयवृत्ति पर यह विचार स्वयं प्रथम स्तरीय विषय-ग्रहण में विषय से विषयी के पार्थक्य को पूर्वकल्पित करता है। किन्तु विषय-ग्रहण में विषय-विषयी का यह पार्थक्य अनिवार्यतः अपेक्षित नहीं होता, विषयता के लिए विषय की विषयी से निरपेक्ष प्रस्तुति ही पर्याप्त होती है। वास्तव में चित्त के अध्यवसाय से निम्नतर स्तर पर विषय की इसी प्रकार की प्रस्तुति होती है और इस स्तर पर हम जितना ही नीचे उतरते हैं विषयी विषयता में उतना ही निश्शेष मिलता है। किन्तु द्रष्टव्य है कि यह निर्विषयि प्रस्तुति विषय को ठोसपन और स्फुटता देने के बजाय उसे उसी अनुपात में तरल, अस्थिर और अस्फुट बनाती है। विषय को स्फुट और नियत विषयता चित्त के आत्मोन्मुख निवर्तन के क्रम में ही उपलब्ध होती है, जब विषयी अपने विषयावगमन और अवगम्य विषय दोनों पर अपना अधिष्ठातृत्व स्थापित कर पाता है। इस निवर्तन के प्रथम चरण में चित्त विषय-ग्राह से मुक्त होकर विषय को उसकी स्वतंत्र सत्ता में प्रतिष्ठित करता है। उसके अनंतर वह जितना ही आत्मोन्मुखता के इस सोपान पर आरोहण करता है विषय की आत्मसत्ता उतनी ही अधिक

स्फुट होती जाती है और उसके स्वरूप के उतने ही स्तर और आयाम अपने को प्रकट करते जाते हैं। यहां अवांतरतः एक और महत्त्वपूर्ण बात उल्लेखनीय है कि चित्त का यह आत्मोन्मुख निवर्तन स्वयं उसकी अपनी चैतसिकता को भी क्षीण से क्षीणतर कर उसे अपने अतिक्रामी स्वरूप : चिद्रूपता : में प्रतिष्ठित करता है। अब चित्त के असंख्य आयाम और भूमियां हैं और चित्त से चित् तक आरोहण के असंख्य स्तर, परिणामतः विषय के भी उसी प्रकार असंख्य आयाम और उसके स्वरूप की गहराई के असंख्य स्तर होते हैं। यहां तक कि विज्ञान भी, जोकि विषय-विषयक बाह्यात्मक आकलन है, विषय के रूपात्मक स्तर पर प्रकट वैविध्य की तालिकाएं नहीं बनाता बल्कि उसके उस नियम का अन्वेषण करता है जो उस विषय के भौतिक आयाम का याथार्थ्य और उसकी प्रतिष्ठा है। और यह याथार्थ्य तथा याथातथ्य वैज्ञानिक पर अपने को उतना ही प्रकट करता है जितना वैज्ञानिक प्रत्यङ्मुख चित्त की गहराई में उतर सकता है।

इस प्रकार विषय का अर्थ, तंत्र और प्रतिष्ठा चिन्मूलक हो जाते हैं। किन्तु यहां यह स्पष्टीकरण आवश्यक होगा कि विषय की यह चिन्मूलकता उसकी विषयिनिष्ठता नहीं है, उस अर्थ में भी नहीं जिस अर्थ में कांट विषय को जाति-मानव की विषयिता का सापेक्ष कहता है[3]। उदाहरणतः विषय-निर्धारण के अयोग्य चित्त नितान्त विषयाधीन होता है, और जिस सीमा तक वह निर्धारण-असमर्थ होता है उसी सीमा तक वह विषयिनिष्ठ भी होता है; विषयकरण-योग्य चित्त, विषय का अपने से पृथक् निर्धारण कर जिस सीमा तक उसकी अधीनता से मुक्त होता है उसी सीमा तक वह विषयिनिष्ठता से भी मुक्त होता है। उदाहरणतः अविकल्पात्मक या अनध्यवसायात्मक चित्त सम्मुख उपस्थित भोज्य पदार्थ से अपनी भूख के अनुसार ही न्यून या अधिक आकर्षित अथवा उदासीन होता है, उस पदार्थ का स्वरूप उसकी तात्कालिक जैव-रासायनिक स्थिति से स्वतन्त्र निर्धार्य नहीं होता, इसके विपरीत अध्यवसायात्मक चित्त अपने देह की जैव-रासायनिक स्थिति तथा चित्त की आवेगात्मक या

(3) कांट चित्त में दो स्तर : आनुभविक और अतिक्रांतः देखने पर भी अपनी इस दृष्टि के आशय को उसकी पूरी गहराई में स्वीकार नहीं कर पाता, वह चित् और सत् को दो भिन्न कोटियों के रूप में देखता है और इस प्रकार चिद्गत को विषयिनिष्ठता मानता है। ऐसा नहीं है कि कांट में चित् और सत् में अभेद की दृष्टि है ही नहीं, वास्तव में नैतिक बोध के विवेचन के प्रसंग में वह इनमें भेद करता है। यहां कांट के विचार को वास्तव में उससे भिन्न रूप में देखा जा सकता है जिस रूप में वह उसे देखता है : यहां कहा जा सकता है कि विषय-ज्ञान के स्तर पर चित् और सत् का भेद पारमार्थिक नहीं है, केवल प्रातिभासिक है, क्योंकि ज्ञानात्मक चित्त, अथवा कहें ज्ञानात्मक वर्गणाओं (केटेगरीज ऑफ अंडरस्टैंडिंग) में प्रतिफलित चित्, वह अन्तर्गुहावासी चैतन्य (ट्रांसेंडेंट कान्शयसनेस) नहीं है जो अपने अखंड बोध में विश्रांत है बल्कि जगद्भाव में प्रवर्तित विषयापेक्षी चित्त (ट्रांसेंडेंटल कान्शयसनेस) है जो स्वरूपतः ही विषय का अपने से पृथक् सत् के रूप में आक्षेप करता है। कांट की दार्शनिक दृष्टि को उसकी समग्रता में इस प्रकार समझना ही युक्त प्रतीत होता है, किन्तु वह स्वयं अपनी दृष्टि की इस समग्रता की थाह लेता दिखाई नहीं देता। इस दृष्टि से कांट के विवेचन के लिए द्रष्टव्य हमारा लेख "इम्मेनुअल कांट", **पाश्चात्य दर्शन का इतिहास, खंड 2** (सं. डॉ. दयाकृष्ण) प्रका. राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 1984 में संकलित।

भावनात्मक स्थिति से स्वतंत्र रूप से विषय का निर्धारण करता है। निश्चय ही अध्यवसायात्मक निर्धारण भी विषयिनिष्ठता से और इस प्रकार विषय-ग्राह से पूर्ण मुक्ति नहीं देता, क्योंकि आखिर इसका निर्धार्य विषय ही होता है, यह मुक्ति अध्यवसायातिक्रमण से सिद्ध होती है। इस प्रकार आत्मोन्मुखता चित्त द्वारा क्रमशः विषयिनिष्ठता का अतिक्रमण है, जो पूर्णतः शुद्ध चित्त की भूमि पर, जिसे वेदांत मुक्त या ब्राह्म स्थिति कहता है, पूर्ण वस्तुतंत्रता की सिद्धि है। यह वस्तुतंत्रता चित् और सत् की अद्वयता होने से वस्तुता का ही नामान्तर है जो वस्तुता उस स्रोत की है जो विषयिता-विषयता के विभिन्न स्तरों और रूपों में प्रवाहित होता है।

यहां आप इस प्रतिपादन के लिए युक्ति की मांग कर सकते हैं। वास्तव में थोड़ा ध्यान देने पर इसकी युक्ति स्वतः स्पष्ट है : सामान्य विशेषों का उपसंहारक होता है और वही विशेषों में क्रियान्वित भी होता है। कुंभकार घटत्व का साक्षात्कार करता है और घटों की रचना करता है, जो व्यक्ति घटत्व का साक्षात्कार नहीं कर सकता वह घट की रचना भी नहीं कर सकता।

इस प्रतिपादन को किसी प्रकार के प्रत्ययवाद के रूप में नहीं देखना चाहिए जिसमें विषय की वस्तुता का निषेध कर विज्ञप्तिमात्र या अवधारणामात्र को सत् कहा जाता है। किन्तु साथ ही इसमें प्रत्ययवाद के सत्य को स्वीकार करने में भी संकोच नहीं है। वास्तव में प्रत्ययवाद के समानांतर ही विषयवाद भी है, जिसका आधुनिक यूरोप में विशेष बोलबाला है। यह प्रत्ययवाद से कहीं अधिक उपहासास्पद और दुराग्रहग्रस्त मत है, क्योंकि इसमें प्रत्यय का विषय में अन्तर्भाव किया जाता है जो विपर्यास की पराकाष्ठा है। इसके अनुसार "यह घट है" अध्यवसाय विशेष भाषा-व्यवहार अथवा भौतिक-रासायनिक घटना है। अब यदि आप इसके विरुद्ध मेरे से युक्ति-तर्क की मांग करें तो मैं कहूंगा कि वह मेरे पास नहीं है, न किसी के पास इसके विरुद्ध कोई युक्ति हो सकती है, क्योंकि पूर्ण दृष्टि-हीनता का कोई उपचार नहीं है। अन्यथा विषयता के विभिन्न रूप, आयाम और स्तर चेतना के रूपों, आयामों और स्तरों के बिना किसी भी प्रकार से कैसे समझे जा सकते हैं? उदाहरणतः भौतिक विषय विषयता का केवल एक रूप है। यह विषय चित्त को संवेद के माध्यम से उपलक्षित होता है। इसी प्रकार विचारोपलक्षी, कल्पनोपलक्षी विषय भी होते हैं। इनसे एक मूलतः भिन्न प्रकार का विषय होता है, जिसे किसी अन्य उपयुक्त नाम के अभाव में हम आत्मोपलक्षी कह सकते हैं। यह प्रत्यङ्मुखता में चित्त द्वारा अपना विषयकरण होता है। विभिन्न प्रकार और स्तरों के ये "अतिभौतिक" विषय भौतिक विषयों से कम स्वतंत्र नहीं होते, बल्कि ये चित्त से अधिक विषयनिष्ठता की अपेक्षा करते हैं। केवल ये विषय चित् से पृथक् सत्ता का दावा नहीं करते जोकि भौतिक विषय अनुचित रूप से करते हैं। यहां हमारा अभिप्राय तर्क और गणित आदि की प्रतिज्ञप्तियों से निर्धारित विषयों से नहीं है जो कि स्पष्टतः विकल्पित होते हैं, बल्कि विकल्प, ज्ञान, ज्ञेय आदि के स्वरूप-विषयक विचार-विषयों से है। स्पष्टतः स्वरूप-विचार के ये विषय विकल्पात्मक नहीं होते, बल्कि ये अधिक ठोस सत्य के रूप में अन्वेष्य होते हैं।

वास्तव में विकल्पात्मक विषयों के स्वरूप की सत्यता के सम्बन्ध में भी कुछ आधारभूत भ्रांतियां हैं, जिनका निवारण आवश्यक है। हमने पीछे भौतिक विषयों के रूप में घट, पट आदि का उल्लेख किया था। किन्तु वास्तव में घट और पट भौतिक विषय नहीं होकर भौतिक में घटत्व और पटत्व के मानव-कर्म द्वारा क्रियान्वयन होते हैं। इस प्रकार भौतिक विषय वह है जो घटत्वादि की अभिव्यक्ति का उपादान बनता है। यह भौतिक क्या है? यह वह बाह्य वस्तु है जो संवेदों के माध्यम से हमें प्रकट होती है और जिसका मूल लक्षण अपारदर्शिता और बाह्यता है। यह बाह्यता चाक्षुष विषयों के लिये स्पर्श द्वारा पुष्टि-योग्यता, स्थायिता और परिप्रेक्ष्यात्मकता, अर्थात् अन्य दर्शकों के लिए समान रूप से ग्राह्यता, आदि से लक्षित होती है। अन्य इन्द्रियों के लिए इसके अन्य लक्षण हैं किन्तु सार्वजनीनता इनका एक सामान्य लक्षण है। अब, स्पष्टतः यह वस्तु संवेद-विषय नहीं होती, संवेद द्वारा लक्षित विकल्प- विषय होती है। जिन दार्शनिकों ने इसके इस स्वरूप को जाना है उन्होंने इसे मानव-बुद्धि द्वारा अध्यारोपित कहा है, दूसरों ने इसके इस स्वरूप की ओर ध्यान ही नहीं दिया। उदाहरणतः सांख्यकारिकाकार ईश्वरकृष्ण ने प्रत्यक्ष विषयों को "इन्द्रिय और अध्यवसाय को संयुक्त रूप से प्रस्तुत" के रूप में परिभाषित किया है किन्तु अध्यवसाय के वस्तु-प्रापण के स्वरूप पर विचार नहीं किया है। उसके टीकाकार वाचस्पति मिश्र ने इसकी परिभाषा "बुद्धि में सत्वोद्रेक" की है। इस प्रकार इन दोनों के अनुसार वह विषय जिसे दिङ्नाग विकल्पित के रूप में परिभाषित करते हैं, बुद्धि से प्रकाशित हो इन्द्रिय को प्रस्तुत होता है और इस प्रकार अविकल्पित है। किन्तु अध्यवसाय की परिभाषा "बुद्धिगत सत्वोद्रेक" बहुत स्थूल दृष्टि की द्योतक है। "विकल्प" पद इसके स्वरूप को उस सीमा तक अधिक सम्यक् रूप से प्रकट करता है जहां तक यह चित्त के अतिक्रामी रचना-कर्म का वाचक है। किन्तु इस रचना-कर्म के आधार पर विषय की वास्तविकता का परिहार करना भ्रांति है, उतनी ही जितना घट के कृति होने से उसे अवास्तविक कहना भ्रांति होगी। जहां तक "भौतिक" का प्रश्न है, वह भी इन्द्रिय-विषयता में पर्यवसित नहीं होता, बल्कि यह इन्द्रिय-विषयभूत संवेद-प्रदत्त से संकेतित होता है। यह : भौतिक: एक ओर बाह्य विषयों से उद्गृहीत होता है और दूसरी ओर सत् के एक प्रकार के रूप में निरूपित होता है: "भौतिक" घटादि विषयों की सत्ता का एक आयाम है, जिनकी सत्ता का दूसरा आयाम घटत्व-प्रत्यय है।

× × × ×

ऊपर हमने "इदम्" या "तत्" के रूप में निर्धार्य विषयों के स्वरूप पर विचार किया और पाया कि इन विषयों की ज्ञानमीमांसा उस तत्त्वमीमांसा में पर्यवसायी होती है जिसका विषय चित्सत् है, वह चित्सत् जो ज्ञान और ज्ञेय का, विषयी और विषय का अतिक्रामी स्रोत है, ऐसा अतिक्रामी स्रोत जो चित्त के प्रत्येक प्रत्यङ्मुख व्यापार में अपने को क्रियान्वित करता है। किन्तु विषयता के अन्य प्रकार भी हैं जो इदम् या तत् के रूप में निर्धार्य नहीं होते। ये भाव्यात्मक, साध्यात्मक, उन्मेषात्मक या अन्त साक्षात्कारात्मक होते हैं। ये विषय अन्य व्यक्ति, अपनी या अन्यों की कृतियां, मूल्य या पर्येषणाएं, और सबसे बढ़कर आत्मा : मनुष्य का अपना तत्त्व और स्वरूप : ये होते हैं। इनमें आत्मा सब से निकट

किन्तु तब भी सब से गुह्य और सबसे सुदूरवर्ती होता है, जिसका अर्थ है कि हमारा प्राप्त रूप सहज पराङ्मुखता का है।

यहां हम इन सब विषयों के स्वरूप पर विचार नहीं कर सकते, यहां हम केवल आत्मा के स्वरूप पर ही विचार करेंगे, यद्यपि अन्य विषयों के स्वरूप पर विचार भी दर्शन के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। किन्तु आत्मा के स्वरूप पर विचार मौलिक महत्त्व का है और वास्तव में यही विचार दर्शन को उसकी परमोच्च गरिमा देता है। घट और पट के ज्ञान और अस्तित्व के स्वरूप का विवेचन भी निश्चय ही दर्शन ही कर सकता है, किंतु एक दूसरा महत्त्वपूर्ण अर्थ है जिस अर्थ में इस स्वरूप-विचार का मूल्य संदिग्ध हो जाता है। वास्तव में विज्ञान की अद्भुत प्रगति के इस युग में दर्शन की सार्थकता और उपयोगिता पर पश्चिम में जो गहरा सन्देह व्यक्त किया गया है वह इस प्रकार के मूल्य में संदेह के कारण ही किया गया है और वह एक सीमा तक उपयुक्त भी है, क्योंकि कुम्हार घट का और बुनकर वस्त्र का निर्माण करता है, ये इनके स्वरूप की सृष्टि करते हैं, ऐसे में दृष्ट घट के अस्तित्व के लिए प्रमाण और घटाभाव के अधिष्ठान की चर्चा ये सब उपहासास्पद हो जाते हैं—जब तक यह विचार ऐसे विचार का अंग नहीं हो जो अपनी उपयोगिता में उस सबसे अधिक महत् और गरिम हो जो उपयोगिता विज्ञान या शिल्प में है। प्राचीन भारतीय, चीनी तथा ग्रीक दार्शनिकों ने इस सत्य को देखा था। भारतीय दार्शनिकों, और सुकरात तथा प्लेटो में यह बोध विशेष रूप से उजागर मिलता है, यों पश्चिम के समकालीन अनुभववादी दार्शनिकों के अतिरिक्त इसका अभाव तो कहीं नहीं मिलता। उन्होंने नीति-मीमांसा के लिये नैतिक बोध की अनपेक्षता को जिस प्रकार उद्घोष के साथ प्रतिपादित किया उसका दूसरा उदाहरण दर्शन के इतिहास में दुर्लभ होगा।

अब, यह आत्मा क्या है? प्रथमतः यह व्यक्तिमूलक सब अनुभवों और क्रियाओं का आश्रय और उनका अधिष्ठाता है। किन्तु इसे "आत्मा" कहने का अर्थ है इसे इतर की व्यावृत्ति में प्रतिष्ठित करना। आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने ठीक ही इस बोध को भाषा के सहारे सामाजिक व्यवहार के द्वारा अर्जित के रूप में निरूपित किया है, भारतीय दार्शनिकों ने इसे अहंकारमूलक अस्मिता-बोध कहा है। इसे अहंकार-मूलक अस्मिता-बोध कहने का अर्थ है कि स्वयं अहंकार अस्मिता-बोध के लिए पर्याप्त नहीं है। क्योंकि अहंकार व्यष्टिमूलक दैहिक अस्तित्व तक का अतिक्रामी आश्रय है और इस प्रकार पाशव अस्तित्व का भी आधार है। आत्मा के लिए अस्मिता : ज्ञातृत्वाभिमान और कर्तृत्वाभिमान—मैं ज्ञाता हूं, मैं कर्त्ता हूं यह बोधः भी आवश्यक है। किन्तु यह वह आत्मा नहीं है जिसे उपनिषद् ने मन्तव्य और निदिध्यासितव्य कहा है। अस्मिताविषयक यह आत्मा उस आत्मा के लिए केवल प्रतीक बनता है, क्योंकि इस :अस्मिता-बोध विषयकः आत्मा के बिना आत्मविचार का प्रवर्तन ही नहीं हो सकता। आत्मा के इन दो स्तरों को हम "अवर" और "वर" के विशेषण दे सकते हैं और इनके लक्षण विषयता और अतिविषयता ये कहे जा सकते हैं। अब, आत्मा की यह विषयता ही इसके बोध की इससे अतीतता की द्योतक है, नहीं तो मात्र आत्मभाव तो इतर-व्यावृत्ति के द्वारा अस्फुट बोध के रूप में भी विद्यमान रहता है। विषयभूत या अवर आत्मा अविषय या वर आत्मा के स्वरूप-विषयक जिज्ञासा उत्पन्न करता है, इसी रूप में यह उस

आत्मा के लिए प्रतीक बनता है। इस प्रकार जब हम प्रश्न करते हैं कि "मैं क्या हूं, मेरा क्या स्वरूप है ?" तब यद्यपि अवर आत्मा ही वाच्य होता है, किन्तु यह व्यंजित उस वर आत्मा को ही करता है जो अविषय और अवाच्य है।

इस प्रतिपत्ति के लिए क्या औचित्य है, यह देखने के लिए इस प्रश्न के और वाच्य आत्मा के स्परूप पर थोड़ा विचार आवश्यक है। "मैं क्या हूं ?" यह प्रश्न प्रकटतः इस प्रश्न जैसा ही है कि "भौतिक क्या है ?" "शब्द क्या है ?" "विषय क्या है ?" आदि, किंतु वास्तव में यह इनसे मौलिक रूप में भिन्न है। दूसरे प्रश्नों के विषय जबकि स्थिर, यथातथ और यथाभूत हैं, आत्मा न अपने अवर स्तर पर इस प्रकार का है और न वर स्तर पर : अपने अवर स्तर पर यह अनुभविता के रूप में तो विपुल से विपुलतर होता ही है, आत्मविषयक जिज्ञासा के साथ यह अपने से अतिक्रामी भी हो जाता है। इसमें आत्म-अतिक्रमण का यह तथ्य इस "विषय" को यथाभूत वस्तु से यथाभाव्य बना देता है। इसकी यह अयथाभूत बोध-स्वरूपता इसे एकसाथ पूर्णतागर्भ अपूर्ण, सिद्धिगर्भ असिद्ध और भावगर्भ अभाव रूप बना देती है। यद्यपि अभावात्मकता प्राणिमात्र में ही निहित है, किन्तु वह अभावात्मकता भाव-गर्भ और अतिक्रामी नहीं होती, वह भावापेक्षी अवश्य होती है। भावगर्भता केवल उस आत्मा का स्वरूप है जो आत्मातिक्रामी होती है, और ऐसी केवल प्रत्यङ्मुख : आत्मचेतन, आत्मोन्मुख: चेतना ही होती है। द्रष्टव्य है कि जैव अभावात्मकता भी कारण-कार्यस्वरूप की नहीं होती जैसाकि जीवविज्ञानी समझते हैं : भूख और तृप्ति दो रासायनिक स्थितियां हो सकती हैं और भूख एक प्रकार की रासायनिक शरीरावस्था की और तृप्ति दूसरी प्रकार की रासायनिक शरीरावस्था की कार्य हो सकती है, किन्तु भूख और तृप्ति का सम्बन्ध अभावानुभूति और अभाव-पूर्ति का ही होता है, जो चेतना की दो अकारण-कार्यात्मक रूप से सम्बद्ध अवस्थाएं हैं। चेतना की स्थितियों के रूप में भूख तृप्ति की अपेक्षी और तृप्ति उस अपेक्षा की पूर्तिस्वरूप होती है और इस प्रकार भूख को भी भावगर्भ अभाव कह सकते हैं, किन्तु इसमें और प्रत्यङ्मुख चेतना की भावगर्भता में मौलिक अन्तर है; प्रथम अभाव और भाव चेतना के उस स्तर के हैं जहां वह पूर्णतः विषयसात् और इस प्रकार अनात्मोपलब्ध होती है जबकि द्वितीय अभाव और भाव आत्मस्वरूप-विषयक और इस प्रकार अनात्ममुक्तिविषयक होते हैं। यहां "अनात्ममुक्ति" और "स्वरूपोपलब्धि" आदि शब्दों से आप चौंक सकते हैं क्योंकि आज हम वैज्ञानिक अवधारणाओं से सम्बद्ध शब्दावली के लिए अभ्यस्त हैं और 'आत्मा' आदि शब्दों के विरुद्ध हमें आशंकित होने के लिए प्रशिक्षित किया गया है, किन्तु अनात्ममुक्ति या स्वरूपोपलब्धि का अन्वेषण उन सब प्रसंगों में हम करते हैं जिनमें हम "ऐसा नहीं होना चाहिए था" ऐसा अनुभव करते हैं। यह अन्वेषण तब अधिक प्रत्यक्ष रूप से आत्मविषयक होता है जब प्रसंग नैतिक होता है। ये दोनों स्तर लोक-साधारण हैं, गुह्य प्रसंगविषयक नहीं। किन्तु गुह्य प्रसंगों को भी हेय मानना उचित नहीं है, क्योंकि जहां अस्मिता, या कहें अनुभूत आत्मा स्वयं प्रतीक हो जाता है वहां प्रसंग की गुह्यता स्वाभाविक है।

किन्तु हमारी आत्माविषयक प्रतिपत्ति अन्यों की इस विषयक प्रतिपत्तियों से बहुत भिन्न है : जैसाकि पीछे हमने संकेत किया, ईश्वर अस्तित्ववान वस्तु नहीं है। वही बात साध्य आत्मा के लिए, या कहें आत्मस्वरूप के लिये, कही जा सकती है। वास्तव में साध्य,

भाव्य आदि पद कालमूलक हैं और काल में अनागत का कोई अस्तित्व नहीं होता सिवाय काल्पनिक के। किन्तु दूसरी ओर अभाव और साधना पूर्णभाव और सिद्धि की परम स्थिति को पूर्वकल्पित करते हैं, जोकि कालतः हो नहीं सकती। यहां उदाहरणतः किसी भी रचना को लें : चित्र, काव्य या निबन्ध को। इनके उत्कृष्टतम होने पर भी इनमें सुधार की अपेक्षा रहती है, जो अपेक्षा इनके उस स्वरूप के आधार पर हो सकती है जो सुधार की अपेक्षा से रहित है। किन्तु यह प्रतिमानभूत निर्दोष स्वरूप अस्तित्व में नहीं है, दूसरे शब्दों में यह वास्तविक नहीं है। किन्तु अस्तित्व-रहित होने पर भी इसे असत् नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यही विद्यमान वस्तु की न्यूनता को नापता है। अब इस सत् को भविष्यगत भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह आवश्यक नहीं है कि किसी की कल्पना में इसका पूर्ण सम्यक् रूप हो ही, वास्तव में वह कभी होता भी नहीं। किन्तु तब भी कृति की अपूर्णता और पूर्णता का आविर्भाव कृति के आविर्भाव के साथ ही हो जाता है। अब यह आविर्भूत किन्तु अस्तित्व-रहित पूर्णता विद्यमान और अनागत नहीं होने से कालातीत सत् होती है जो अस्तित्व और क्रियान्वयन के द्वारा काल में अवतरित होती है। इसी अस्तित्व में यह भाव्यता या साध्यता का आयाम लेती है जो आयाम कालात्मक नहीं होकर कालातीत होता है।

यह निरूपण आत्मा के सम्बन्ध में और अधिक सत्य है। यह प्रतीकभूत आत्मा भी वास्तव में कृति ही है, इस अतिरिक्त गुण के साथ कि यह आत्मचेतन और आत्मनिरूपक होती है। इसे कृति कहने का अर्थ है कि यह जिस अन्तर्वस्तु के साथ आविर्भूत होती है उसका इसके बाहर और पूर्व कोई दूसरा उपादान नहीं होता जो इसमें परिणत होता हो। हमारे प्राचीन दार्शनिकों ने इसे कृति के रूप में नहीं देखकर कर्म-फल के रूप में देखा, जोकि कर्मकृत नहीं होकर अनादि शृंखलाभूत है। किन्तु वैसा होने पर मैं न तो इसके लिए उत्तर-दायी हो सकता हूं और न ही इसमें दोष-निवारण के लिए उद्विग्न हो सकता हूं। इस प्रकार प्रतीकभूत आत्मा को आत्मकृति, आत्मसंकल्प-मूलक सृष्टि कहना ही युक्त है, जो इसी कारण अपने-आप से न्यून भी होती है। इसे आत्मसंकल्पकृत कहने का यह अर्थ नहीं है कि संकल्प किसी संकल्पकर्त्ता में इससे पूर्व स्थित होता है। सर्जन का तत्त्व उसकी नितान्त मौलिकता, नितान्त अपूर्वता और अपनी सृष्टि के साथ युगपद् रूप से आविर्भूत होना है। इस तथ्य को सुचारुतम रूप में तैत्तिरीय उपनिषद् के ऋषि ने कहा है :

असद्वा इदमग्र आसीत्, ततो वै सदजायत, स आत्मानं स्वयमकुरुत। "अर्थात् आरम्भ में असत् ही था। उससे सत् की उत्पत्ति हुई। उस सत् ने अपने को स्वयं रचा।"

अब निश्चय ही असत् से सत् की इस आत्मसृष्टि में कोई अपने से बाहरी विधान नहीं हो सकता था और इस प्रकार वह रचना कुछ भी हो सकती थी, अर्थात् वह जो है यद्यपि वही वह है, किन्तु वह अन्य कुछ भी हो सकती था। किन्तु तब भी वह विधान से, नियम से रहित नहीं होती, वह आत्म-विहित होती है। किन्तु इस या किसी भी कृति के सम्बन्ध में यह एक महत्त्वपूर्ण बात है कि वह जबकि कुछ भी हो सकती है, क्योंकि वह कुछ भी होने के लिए स्वतन्त्र है : उसका कोई अन्य बाह्य नियामक कारण नहीं होता, वह कुछ एक ही हो सकती है, एक-साथ सब कुछ नहीं, और यह तथ्य इसे : आत्मा को, आत्मसर्जन के व्यापार और उसकी सृष्टि को : मूलतः ही अनन्त संभावनाओं में से किसी एक का क्रियान्वयन बनाता

है। यह क्रियान्वयन अनन्त संभावनापूर्वक और आत्मतंत्र होने से एक ओर आगन्तुक होता है और दूसरी ओर कोई एक ही होने की अनिवार्यता से अन्तःसंगत।

यहां एक और महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर ध्यान देना आवश्यक है। क्रियान्वयन जबकि एक संभावना का घटित होना है, संभावनात्मकता और क्रियान्वयन दोनों के चिदात्मक होने से प्रत्येक क्रियान्वयन में सब संभावनाओं का वह सम्पूर्ण क्षेत्र अन्तर्निहित रहता है जिस क्षेत्र से किसी एक का यह क्रियान्वयन होता है : चेतना के प्रत्यङ्मुख होने पर : जैसे मनुष्य में : यह संपूर्ण क्षेत्र, अथवा कहें सब अक्रियान्वित संभावनाएं, उद्भासित, अवधार्य या अवगम्य होती हैं। इस तथ्य को स्पष्टतम रूप में अभिनय में देखा जा सकता है, यद्यपि संपूर्ण कथा-साहित्य और अन्य व्यक्तियों के साथ संप्रेषण भी इसी तथ्य के द्योतक होते हैं; इनमें एक वास्तव व्यक्ति अन्य संभाव्य व्यक्तियों की भूमिका में अपने को स्थापित कर के देखता है। यह बोध हमें उसी सीमा तक लभ्य होता है जिस सीमा तक हम चेतना के चिदुन्मुख अभिगमन में अग्रसर हो सकते हैं। कहते हैं श्री रामकृष्ण परमहंस ने वैयक्तिक अस्तित्व की अन्य सभावनाओं का न केवल बौद्धिक या भावनात्मक साक्षात्कार किया था बल्कि कुछेक की अपने मनोदैहिक अस्तित्व तक में अवतारणा भी की थी। वास्तव में अभिनेता भी बहुत कुछ यही करता है। वह भी बौद्धिक : प्रत्यङ्मुख चेतना में साक्षात्कृतः संभावनाओं की मनोदैहिक स्तर पर अवतारणा करता है, किन्तु इस अन्तर के साथ कि वह उन संभावनाओं की संभावनात्मक रूप में ही अवतारणा करता है, उनमें अस्तित्वतः क्रियान्वित नहीं होता।

संभावना-साक्षात्कार के उपर्युक्त उदाहरणों से यह नहीं समझ लेना चाहिये कि इस साक्षात्कार का क्षेत्र केवल वास्तव-संभाव्य मानव-व्यक्तियों तक ही सीमित है; हम पशु-पक्षियों, वृक्ष-लताओं के अस्तित्व, यहां तक कि चित् के भौतिक में क्रियान्वयन के तत्त्व का भी साक्षात्कार कर सकते हैं। यह कहना कि यह सम्भव नहीं है, इनका अवगमन केवल ऐन्द्रिक सम्पर्क के माध्यम से ही हो सकता है, यह कहने के बराबर है कि ये संभावनाओं के क्रियान्वयन नहीं होकर यथा-भूतताएं हैं। किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है · अस्तित्व के सभी स्तरों के क्रियान्वयन में उसी प्रकार अन्तर्दृष्टि संभव है जिस प्रकार हमारे अपने क्रियान्वयन में संभव है। किन्तु यहां हम अभी इस प्रसंग पर आगे विचार करने की स्थिति में नहीं हैं।

यहां एक और महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर तत्त्वमीमांसा के लिए विचार आवश्यक है और वास्तव में यह प्रश्न तत्त्वमीमांसा के अपने स्वरूप-निर्धारण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। वह यह कि यदि आत्मा कृति है और अन्य कृतियों के समान ही अपने स्वरूप से अपर्याप्त और असम्यक् है तो इसके इस दोष-निवारण में तत्त्वमीमांसा का क्या स्थान है और स्वयं इस अपर्याप्तता का तत्त्वमीमांसा के लिए क्या अर्थ है ?

वास्तव में जीवमात्र में जितने भी प्रयत्न हैं वे सब आत्मसम्बद्ध अभाव या अपर्याप्तता के निवारण-विषयक ही कहे जा सकते हैं : आहार, निद्रा, भय, मैथुनंच ये सब भी आत्मसम्बद्ध ही हैं। केवल यहां आत्मा देहस्वरूप होता है और देहस्वरूप होने से यह आत्म-चेतन नहीं होता, परिणामतः यह आत्मा आत्मकृत भी नहीं होता। आत्मचेतना केवल मानव-स्तर पर ही उपलब्ध होती है और परिणामतः इसी स्तर पर आत्मा आत्मकृत होती है। आत्मा की यह आत्मकृतकता इसके क्रियान्वयनगत दोषों का बोध और उनके निवारण

के लिए उद्विग्नता भी उत्पन्न करती है। इस प्रकार आत्मक्रियान्वयन इस प्रयत्न को मूल्यात्मक बना देता है। कलाएं, विज्ञान और नैतिक आचरण ये सब इसी प्रयत्न के अन्तर्गत होते हैं और ये अवर आत्मा को वर आत्मा के लिए अधिक से अधिक सम्यक् प्रतीक बनाने के प्रयोजन से ही प्रवृत्त होते हैं। किन्तु द्रष्टव्य है कि साधारणतः नैतिकता के सिवाय अन्य किसी मूल्य का अनुसरण हम प्रत्यक्षतः इस बोध के साथ नहीं करते। किन्तु ये कर्म आत्मसर्जक आत्मा के प्रयत्न होने से इस कृति-विषयक ही होते हैं और इसकी पूर्ति में ही निष्पन्न होते हैं : विज्ञान सत्य के ग्रहण के लिए बुद्धि को व्यवस्थित करता है और कला सौन्दर्य-ग्रहण के लिए भावना को प्रांजल और अनुशासित करती है। इस प्रकार ये दोनों कर्म आत्मा को अपने अर्थ की, अपने याथातथ्य और सत्य की अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्ततर और अधिकाधिक पारदर्शी माध्यम बनाते हैं। किन्तु नैतिक कर्म अधिक प्रत्यक्ष रूप से आत्मा-विषयक होता है। क्या कर्त्तव्य है और क्या अकर्त्तव्य ये सीधे "मेरे लिए" होते हैं : "मेरे लिए क्या करना उचित है, क्या अनुचित ? अधिक सम्यक् शब्दों में, कौन कर्म आत्मप्रापक है और कौन आत्म-वियोजक ?

स्वभावतः सब अन्वेषणों में परम अन्वेष्य आत्मा का स्वरूप ही है : मैं क्या हूं ? क्या मेरा उत्स और क्या गन्तव्य है ? क्योंकि अन्य सब अन्वेषण इस मूल प्रश्न से ही सम्बन्धित हैं और इसी के आधार पर ये प्रमाणित होते हैं। उदाहरणतः वैज्ञानिक, कलाकार, परोपकारी या धार्मिक किसी को भी अपने अन्वेषण की सार्थकता में सन्देह हो सकता है : "यदि मैं वह सब भी जान लूं जो विज्ञान के लिए विज्ञेय है, तो भी उससे क्या होगा ? वह मुझे किस प्रकार अधिक सार्थकता देगा ?" यहां यह स्पष्टीकरण आवश्यक है कि यहां "मेरा" से तात्पर्य "मुझपरक" नहीं है बल्कि वह आत्मा है जो इस सम्बन्ध का विषय नहीं हो सकता, जो अहंकारमूलक सीमाओं से अतीत है। अवश्य अवर आत्मा, कृतक आत्मा अहंकारारूढ़ होता है और इस प्रकार "मेरा" आदि सम्बन्धों का विषय भी होता है, किन्तु उपर्युक्त प्रश्न इस आत्मा के सम्बन्ध में नहीं होता, इसकी प्रतीकरूपता के सम्बन्ध में होता है। दूसरे, इस प्रसंग में वास्तव में अवर आत्मा भी अहंकारारूढ़ ही होता है, अहंकारात्मक नहीं होता : किसी भी आत्मविचार में अहंकार अतिक्रमित और निरस्त रहता है। मैत्रेयी का प्रश्न है कि "जिससे मैं अमृत नहीं हो सकती उसे पाकर मैं क्या करूंगी ?" (येनाहं नामृता स्याम किमहं तेन कुर्याम् ?) यही मूल प्रश्न है—आत्मा से अन्य सब अन्वेषणों की सार्थकता की संदिग्धता सम्बन्धी प्रश्न, अथवा कहें सब अन्वेषणों की आत्मान्वेषण में ही प्रतिष्ठा का द्योतक प्रश्न। यह सही है कि अधिकांशतः यह प्रश्न किसी को उद्विग्न नहीं करता। हम लेक्चरर हैं तो प्रोफेसर और कुलपति होना हमारा परम साध्य होता है, इसी प्रकार वैज्ञानिक के रूप में अथवा दार्शनिक के रूप में हमारे कुछ साध्य रहते हैं, इनसे आगे स्वयं इनकी सार्थकता की जिज्ञासा हमें उद्विग्न नहीं करती। किन्तु कुछेक को कभी यह करती भी है। इसके मूर्त्त प्रमाण के रूप में गांधी जी का उदाहरण द्रष्टव्य है। भारत की स्वतन्त्रता के बाद कौन प्रधानमंत्री हो और कौन राष्ट्रपति, इसके प्रसंग में कभी किसी के यह बात ध्यान में भी नहीं आयी कि यह गांधी जी हो सकते हैं, उनके साथ यही संगत था कि वे प्रधानमंत्री पद पर नहीं, नोआखली में होते। किन्तु आप दार्शनिक हैं, आपको इसके प्रमाण के लिए तार्किक

युक्ति की अपेक्षा होगी, इसलिए आपके लिए यह देखने की आवश्यकता है कि आत्मा के स्वरूप विषयक अन्वेषण के अतिरिक्त किसी भी अन्वेषण के प्रति यह सन्देह तर्कतः युक्त है कि "यह पा भी लिया तो क्या होगा ?" और वस्तुतः किसी भी काम्य की उपलब्धि हो जाने पर उसके प्रति हमारी उत्कंठा और उससे अपेक्षित सुख दोनों ही चुक जाते हैं।

इस पर प्रश्न हो सकता है कि यह आत्मा का अन्वेषण क्या है ? इस जिज्ञासा का क्या औचित्य है ? किस प्रकार इस अन्वेषण की सिद्धि परम साध्य है ?

इस प्रसंग में यहां स्मरणीय है कि हमने आत्मा को कृति कहा है, आद्य संकल्प द्वारा सृष्ट कृति। इसे आद्य संकल्प की सृष्टि कहने का औचित्य वैयक्तिक वैशिष्ट्य का कोई बाह्य कारण खोजने की अयुक्तता और इस आत्मा में न्यूनता का तथा इस न्यूनता की निवार्यता का बोध होना है। इस न्यूनता के बोध में एक ओर इसके प्रति हमारे में उत्तरदायित्व का स्वीकार होता है जो इसकी निवार्यता को हमारा ही कर्त्तव्य बनाता है और दूसरी ओर यह बोध हमें इसके आधार में संकल्पकर्त्ता के रूप में और इसके अन्त में इसके मानदंड के रूप में, इसके प्रमाण के रूप में प्रतिष्ठित करता है। इस पर आपत्ति हो सकती है कि जिज्ञास्य तो केवल भूत वस्तु ही हो सकती है। यहां यह द्रष्टव्य है कि आत्मा ही नहीं, जोकि अतिक्रामी सकल्पमूलक है, कोई भी कृति अपने स्वतंत्र प्रमाण और स्वतंत्र ऋत के बिना नहीं होती: सर्जक को सृजन के पूर्व और उसके मध्य उसके ऋत या आधार-तत्त्व का साक्षात्कार करना होता है और जहां तक वह यह कर पाता है वहीं तक उसकी कृति प्रामाणिक होती है। निश्चय ही कृति के ऋत और सत्य का यह साक्षात्कार कृतिकार को अपने ही भीतर करना होता है, किन्तु यह वह वहीं तक कर पाता है जहां तक वह अपने को उस साक्षात्कार के लिए प्रांजल, पारदर्शी बना पाता है। आत्मा के सबन्ध में यह और भी अधिक स्पष्ट सत्य है। कृति के सत्य की यह साक्षात्कार्यता इस बात की पुनः पुष्टि करती है कि सत् चित् से अभिन्न है।

अब यह तथ्य सब कृतियों को व्यंजक बना देता है जिनका व्यंग्य अपने ऋत में शाश्वत रूप से प्रतिष्ठित होता है, अथवा कहें जिनका व्यंग्य स्वयं यह ऋत ही होता है। इस प्रकार कृति सिद्ध ऋत की पुनः सिद्धि का उपक्रम होती है। सांख्यकारिकाकार ने सृष्टि को पुरुष के विमोक्ष के निमित्त से प्रवर्तित जो कहा है उसका यही अर्थ है, क्योंकि अन्यथा तो पुरुष स्वरूपतः ही मुक्त है। आत्मा को अवर और वर इस प्रकार द्विधा कहने का भी यही औचित्य है। अब यह वर आत्मा कृति नहीं है, कृति यह अवर आत्मा ही है वर, आत्मा जिसका सत्य और साध्य है; यदि वर आत्मा भी कृति हो तो वह भी अन्य प्रमाणापेक्षी होगी।

किन्तु तब वर आत्मा को उस अर्थ में "है" भी नहीं कहा जा सकता जिस अर्थ में अवर आत्मा होता है। उस चित्र या इस निबन्ध के निर्दोष रूप का कोई अस्तित्व नहीं है, केवल यह प्रस्तुत और सदोष रूप ही है जिसका अस्तित्व है। किन्तु तब यह अस्तित्व अपूर्ण सत्य है, अपने सत्य में अधूरा। कांट ने **क्रिटीक् ऑफ प्योर रीज़न** में अवर आत्मा को ही लक्षित किया था और उसे शुद्ध रीज़न का भ्रांत अभ्युपगम कहा था, क्योंकि उसके सम्मुख ईसाई धर्म और दर्शन द्वारा संवेदमूलक वस्तु के निदर्श पर कल्पित आत्मा की अवधारणा

ही थी और शुद्ध रीज़न के क्षेत्र में इस प्रकार की वस्तु के लिए अवकाश नहीं है । किन्तु संवेद-मूलक वह है नहीं । किन्तु कांट ने अपनी नीतिमीमांसा में आत्मा को स्वीकार किया है जिसे बहुत कुछ वर आत्मा ही कहा जा सकता है । किन्तु उसका यह वर आत्मा नैतिक अनुभव से तर्कानुमेय अथवा उसकी प्रागपेक्षा "प्री-सप्पोज़ीशन" के रूप में ही ग्राह्य रह जाता है, साक्षात्कार्य ऋत या सत्य के रूप में नहीं जोकि वह वस्तुतः है और जिसका हम आत्मालोचन की प्रत्येक उद्विग्न घड़ी में अथवा आत्मविवेचन और मनन के प्रत्येक प्रशान्त क्षण में साम्मुख्य करते हैं, फिर चाहे यह साक्षात्कार कितना ही क्षीण क्यों नहीं हो । इस साक्षात्कार के बिना हमारा कोई भी कर्म, कोई भी कृति, आत्मा इन कृतियों में विशेष रूप से, प्रामाणिक नहीं हो सकती । किन्तु कांट में वास्तव में जो बहुत बड़ी भ्रांति इस प्रसंग में दृष्टिगोचर होती है वह यह है कि उसने संवेदमूल के अतिरिक्त अस्तित्व के सब मूलों, सब आधारों का निषेध कर असंवेद्य सब कुछ का अस्तित्व असंभव बना दिया और अस्तित्व के बाहर और उसके अतिरिक्त किसी सत् के लिए अवकाश नहीं रखा, जिसके परिणामस्वरूप ईश्वर और आत्मा सब निषिद्ध हो गए । किन्तु उसने यह नहीं देखा कि इस प्रकार स्वयं उसका नाउमिना (परमार्थ), स्वलक्षण वस्तु, और जगत् का विधायक विकल्प (केटेगरीज़ आफ अंडरस्टेंडिंग) भी अस्तित्व की कोटि में नहीं आते और इस प्रकार उसके अनुसार असत् हो जाते हैं ।[4]

जैसाकि उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है, यह आत्मा किसी विज्ञान का अथवा विज्ञान-विषयक किसी तर्क का विषय नहीं हो सकता, यह विशिष्ट रूप से ऐसे तत्त्वचिन्तन का ही विषय हो सकता है जो अपनी प्रामाणिकता साक्षात्कारात्मक प्रज्ञा में पाता है । यों तत्त्वमीमांसा के निषेध में आत्मा आदि तत्त्वों का विचार तो आप भी करते ही हैं और इस प्रकार आत्मा पर विचार के औचित्य को स्वीकार करते हैं, वह चाहे आत्मा के निषेध के लिए ही हो, केवल आपका विचार सत्ता और तत्त्व विषयक नितान्त भ्रांत धारणाओं पर आधारित है । जो विचारक संवेद और संवेद्य से आगे कुछ नहीं देख सकते हों, जिनके लिए किंकर्त्तव्यता के प्रश्न के क्लिष्टतम निर्णय की घड़ी रुचि-अरुचि के प्रश्नों से अधिक कुछ नहीं हो, जिनके लिए बुद्ध का अभिनिष्क्रमण आवेगात्मक अस्थिरता से आगे कुछ अर्थ नहीं रखता हो, जिनके लिए कला-सर्जन आवेगात्मक उद्गार या कल्पना-प्रवणता मात्र हो, उनके प्रति हमें दयाभाव तो हो सकता है, उन्हें हम अपना विवेक समर्पित नहीं कर सकते ।

पी–51, मधुवन पश्चिम
टोंक रोड, जयपुर–302015

4. ऐसा नहीं है कि कांट को इस प्रकार से नहीं समझा जा सकता कि उसमें ये समस्याएं नहीं रहें । हमने वास्तव में अपने लेख: "इम्मेनुअल कांट" (उपर्युलिखित) में कांट को इसी प्रकार समझने का प्रयत्न किया है, किंतु कांट की अन्य अधिकृत व्याख्याओं को देखते हुए वह कांट की पुनारचना ही अधिक लगता है, यथावत् प्रस्तुतीकरण कम ।

उन्मीलन : वर्ष ४, अंक १
जनवरी, १९८८

3

दार्शनिक सिद्धान्त और उनका प्रमापण

नारायण शास्त्री द्राविड़

छान्दोग्य उपनिषद् में नारद और सनत्कुमार के बीच हुए एक संवाद का रोचक विवरण है। नारद मुनि बड़े खिन्न हृदय से सनत्कुमार के पास जाकर अपनी व्यथा का कारण स्पष्ट करते हुए उन्हें कहते हैं कि नाना प्रकार की विद्याओं में पारंगत होने पर भी उनका मन अशांत बना हुआ है। इस पर सनत्कुमार नारद को समझाते हैं कि जो ज्ञान प्राप्त कर वे (नारद) अपने को ज्ञानवान् समझ बैठे हैं वह वास्तव में शब्दों तक ही सीमित है। किस वस्तु का, किस बात का क्या नाम है इतना ही नारद जान पाये हैं आनुभविक या साक्षात्कारात्मक ज्ञान उन्हें प्राप्त नहीं है। इसी कारण वे अशांत हैं।

लगभग अढ़ाई हज़ार साल पहले संकलित किये गये इस उपनिषद् में कही गयी उक्त बात की अर्वाचीन तार्किक भाववादियों द्वारा पारंपरिक पश्चिमी दर्शनों पर उपस्थित किये गये आक्षेपों से तुलना एक अतीव विस्मयजनक तथ्य को हमारे सामने प्रस्तुत करती है। वह तथ्य यह है कि दार्शनिक चिन्तन पश्चिमी विचार-परंपरा में जिस प्रकार अनुभव-निरपेक्ष ढंग से चलता रहा है वैसे ही प्राचीन काल के कुछ ऋषिगण अनुभव-शून्य चिन्तन को ही दार्शनिक समझते रहे हैं। तार्किक भाववादियों का यह कहना था कि आनुभविक (प्रमापणीय) अर्थों से रहित शब्दों के स्वैर प्रयोगों की ही पारंपरिक दर्शन में भरमार है। 'शून्य अपने को विलीन कर देता है' ('नथिंग नथिंग्ज़ इट्सेल्फ') इस प्रकार की हाइडेगर जैसे दार्शनिकों की उक्तियों का क्या अर्थ लिया जाय? यदि कोई अर्थ लिया भी जाय तो क्या वह अनुभाव्य होगा? यदि नहीं तो इस प्रकार का चिन्तन अर्थ-शून्य शब्दों का ही चिन्तन होगा। सनत्कुमार ने बिल्कुल यही बात नारद की ज्ञान-साधना के सम्बन्ध में कही है।

तार्किक भाववाद का यथोचित प्रतिवाद परंपरानुसारी दार्शनिक कर पाये ऐसा नहीं कहा जा सकता। जिस आनुभविक प्रमापण की कसौटी का पारंपरिक दर्शनों की निस्सारता सिद्ध करने के हेतु भाववादियों ने उपयोग किया था उसे वे नपे-तुले ढंग से परि-

भाषित नहीं कर सके थे। उन्हें दर्शन का खंडन करते हुए भी विज्ञान के सर्वंकष सिद्धांतों को बचाना था। ये सिद्धान्त अनुभव की—विशेषतया ऐन्द्रियक अनुभव की—कक्षा में नहीं लाये जा सकते थे। इसी प्रकार इस कसौटी को स्वयं किसी "ऐन्द्रिय" अनुभव की परिधि में समाविष्ट करना संभव नहीं था। इन कमज़ोरियों का परंपरावादियों ने भाववाद के प्रतिवाद के साधन के रूप में उपयोग किया। किन्तु वे अपनी कमज़ोरी को, जिसे भाववादियों ने उद्घाटित किया था, समझने या सुधारने के लिए कभी प्रयासशील नहीं हुए। जिन सिद्धान्तों की वे चर्चा सदा से करते आ रहे हैं क्या वे सिद्धान्त कभी भी अनुभव-गोचर हो सकते हैं? इस बात का गंभीरता से उन्होंने कभी विचार किया हो ऐसा प्रतीत नहीं होता। उलटा ऐसा आभास होता है कि अपने ही प्रतिपादित सिद्धान्तों को दार्शनिक केवल अपने बुद्धि-कौशल के प्रदर्शन का तथा अन्य लोगों को प्रभावित करने का एक साधन मात्र समझते हैं। अन्यथा हेगल, बोसांके जैसे प्रत्यक्षवादी या कूटस्थ चैतन्यवादी और उनके अनेकानेक अनुयायी सामान्य जनों के समान धन-पुत्र-लोकैषणा से सदैव अभिभूत नहीं दिखाई दिये होते।

तार्किक भाववादी भी अपनी दार्शनिकता की ज़िम्मेदारी को अच्छी तरह निभा सके थे ऐसा कहना कठिन है। पारंपरिक दर्शन के सब विचार अर्थशून्य हैं, केवल भाववाद-सम्मत संवेदवाद ही सही है, यह मान लेने पर भी यह प्रश्न शेष रह जाता है कि संवेदवाद अनुभाव्य हो सकता है क्या? क्या कोई भी महान् से महान् दार्शनिक भी बाह्य स्थूल वस्तुओं के स्थान में संवेद-पुंजों को कभी भी अनुभव करता या कर सकता है? जिस प्रकार के तथाकथित सम्बन्धों के द्वारा संवेदों से स्थूल वस्तुएं संरचित होती मानी गई हैं क्या वे सम्बन्ध कभी अनुभव-गोचर हुए या हो सकते हैं? यदि नहीं तो भाववाद भी पारंपरिक दर्शन की लीक का ही अनुसरण करता है ऐसा समझना होगा। तार्किक भाववाद के एक मूर्धन्य पुरस्कारक प्रो. एयर अपने "आॅर्ग्यूमेंट फ्राम इल्यूज़न" इस लेख में संवेदों के स्वरूप की चर्चा करते हुए यह निष्कर्ष अंत में प्रस्तुत करते हैं कि "संवेद एक भाषीय तथ्य है। (बाह्य) 'वस्तुओं के सम्बन्ध में संवेदमात्र को सत्य मान कर सब प्रकार के मानवीय व्यवहार संभव हैं और तर्कतः समर्थनीय भी। वस्तु-सत् क्या है इस सम्बन्ध में भाववादी निश्चयात्मक ढंग से कुछ नहीं कह सकता।" यही बात प्रसिद्ध दार्शनिक क्वाइन ने भी अपने "ऑन व्हॉट् देयर इज़" इस लेख के अन्त में कुछ भिन्न प्रकार से कही है। उनके मतानुसार वस्तु-विषयक तथा संवेद विषयक अलग-अलग सांप्रत्ययिक ढांचे हैं। प्रत्येक के अपने गुण-दोष हैं। वस्तु-सत् के स्वरूप का यथावत् निर्धारण करना इन ढांचों का काम नहीं है।"

क्या सभी पश्चिमी दार्शनिक सिद्धान्तों पर यही बात लागू है? क्या वे सभी भाषीय या शाब्दिक तथ्य मात्र या कल्पना की उड़ान मात्र हैं? दो-एक उदाहरण लेकर इस प्रश्न का विचार करना उपयुक्त होगा। प्रथम देकार्त के सर्वसंदेहवाद को लें। क्या सर्वसंदेहवाद आनुभविक कसौटी पर खरा उतर सकता है? क्या कोई भी कभी भी वस्तुमात्र की, अपने देह-सहित सत्ता के प्रति संशयाकुल हो सकता है? भिन्न-भिन्न वस्तुओं, तथ्यों आदि के संबंध में समय-समय पर संदेह तो प्रायः ही हुआ करता है। इसका निराकरण भी सत्य परिस्थिति के ज्ञान से होता रहता है। किन्तु जिस सर्वंकष संदेह की देकार्त ने अपने दर्शन की आधार-भित्ति के रूप में कल्पना की है वह तो कल्पनामात्र या शब्दमात्र ही प्रतीत होता

है। यदि ऐसे किसी अनुभव का, जिसमें वस्तुमात्र की संदेहास्पदता का आभास हो और जो सब को प्राप्य हो, देकार्त निर्देशन नहीं कर सकता हो तो यह निरर्थक शब्दमात्र है ऐसा ही समझना होगा। निद्रा जैसी स्थिति में किसी वस्तु का ज्ञान नहीं रहता यह देकार्त के पक्ष में कहा जा सकता है। किन्तु निद्रा में यदि कोई ज्ञान न हो तो उस अवस्था में संदेह भी नहीं रहता। ऐसी स्थिति में सर्वंकष संदेहास्पदता के प्रतिपादन का क्या अर्थ होगा? यही कि अन्यान्य वस्तुओं की सत्ताओं का समावेशक ऐसा कोई स्वयंसिद्ध तथ्य नहीं है जिससे उनको तर्कतः निष्कृष्ट किया जा सके। यहां 'स्वयं सिद्ध' का अर्थ या तो तर्कतः अप्रत्याख्येय या अनुभवगोचर ऐसा होगा। तर्कतः अप्रत्याख्येय तथ्य अंततोगत्वा पुनरूक्ति ही होते हैं अतः उनका विचार करने की आवश्यकता नहीं है। शेष अनुभवगोचर तथ्य ही रहते हैं। अब सर्वसंदेहवाद का मतलब यह होगा कि ऐसा कोई सामान्य अनुभव नहीं है जिसमें वस्तुमात्र की सत्ता का निश्चयात्मक रूप से ग्रहण होता हो। लेकिन ऐसे एक सामान्यानुभव के घटित होने की क्या आवश्यकता है? क्या भिन्न-भिन्न वस्तुओं के भिन्न-भिन्न अनुभव नहीं हो सकते?

इस पर शायद यह प्रतिवाद हो कि प्रत्येक वस्तु कभी न कभी संदेह-विषय होती ही है अतः वस्तुमात्र को संशयास्पद मानने की संभावना विचारार्ह है। यदि एक ही समय एक ही व्यक्ति के संदेह का विषय-वस्तुमात्र न भी हो तो भी भिन्न-भिन्न समयों में भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के संदेह-विषय सभी वस्तुएं हो ही सकती हैं। सर्वसंदेहवाद का यह भी समर्थन लचर ही है। जैसे यह बात सही है कि प्रत्येक वस्तु संशय-विषय हो सकती है और (कभी न कभी) होती भी है वैसे ही यह बात भी सही है कि प्रत्येक संदेह का कभी न कभी निराकरण होकर संदेह-वस्तु का निश्चयात्मक ज्ञान भी घटित होता है। संदेह और निश्चय ये दोनों मन की स्वाभाविक स्थितियां हैं। इनमें से एक को मौलिक मानसिक स्थिति मानकर अन्य को तर्कतः प्रस्थापनीय मानना उचित नहीं है। इस प्रकार देकार्त का सर्वसंदेहवाद (अनुभव के साक्ष्य के बिना) एक कल्पना-तरंग मात्र है ऐसा मानना अनिवार्य हो जाता है।

अब दूसरा उदाहरण विज्ञानवाद का लें। योगाचार बौद्धों ने बाह्य जगत् को असत् तथा विज्ञान की ही विषय-रूप से अभिव्यक्ति माना है। विज्ञान से भिन्न बाह्य वस्तुएं होतीं तो उनका विज्ञान-निरपेक्ष ग्रहण होता, किन्तु यह बात असंभव है। यही नहीं, बाह्य वस्तुओं को न स्वतंत्र स्थूल पदार्थों के रूप में समझा जा सकता है न परमाणु-पुंज के रूप में। दोनों विचार सदोष हैं। अतः बाह्य प्रतीत होने वाले सभी पदार्थों को आन्तर विज्ञान के विभिन्न आकारों के रूप में देखना ही तर्क-संगत है ऐसा विज्ञानवादी बौद्धों का कथन है। स्वाप्न अनुभवों के आधारों पर भी बाह्य वस्तुओं की आभास-रूपता का बौद्ध समर्थन करते हैं। यदि स्वाप्न अनुभव में गोचर विषय सत्य नहीं तो जागृत अवस्था के अनुभवों के विषय भी सत्य नहीं हो सकते। जैसे स्वप्न वैसे ही जागृति को भी असत् की ही प्रदर्शक मानना उचित होगा।

क्या ये सब तर्क अनुभव-साक्षिक हैं? ऐसा एक भी अनुभव नहीं है जिसमें सभी बाह्य विषय विज्ञान के आकार के रूप में अवगत हों। यह सही है कि बाह्य पदार्थ स्थूल हैं या परमाणु-रूप यह निश्चय से नहीं कहा जा सकता। किन्तु स्थूलता की जो आनुभविक कसौटी है वह तो बाह्य पदार्थों को लागू की ही जा सकती है। यदि इंद्रियों से बाह्य पदार्थों की स्थूलता का ज्ञान होता हो तो उन्हें स्थूल मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए भले ही

तर्कतः इस स्थूलता का समर्थन करना बहुत कठिन हो। यह भी यहां ध्यान में रखना चाहिये कि स्थूलता-सूक्ष्मता के निकष अनुभव के आधार पर ही निश्चित किये गये हैं। ये निकष अनुभवतः स्थूल प्रतीत होने वाले पदार्थों को भी लागू न हो सकें तो वे आनुभविक हैं ही नहीं, ऐसा मानना पड़ेगा।

स्वप्न और जागृति के सादृश्य की बात भी कुछ अटपटी-सी है। यह सत्य है कि इन दो चेतनावस्थाओं में कुछ बातों में साम्य है। दोनों में विषयों का ग्रहण होता है और उनका अपलाप भी। इसी प्रकार दोनों में वैषम्य भी है और विचार कर देखने पर वह साम्य से कहीं अधिक दिखाई पड़ता है। जागृति में स्वाप्न बातें नितान्त असत्य लगती हैं, स्वप्न में जागृति की प्रतीति ही नहीं होती। जागृति में अनुभव-गोचर वस्तुएं प्राकृतिक नियमानुसारी होती हैं, उन पर स्थूल कालादि की मर्यादायें लागू होती हैं। किन्तु स्वाप्न वस्तुएं निर्बाध रूप से अनुभवगोचर होती हैं। स्थूल कालादि बंधनों को त्याग कर भी वे हमें (स्वप्नावस्था में) विस्मय में नहीं डालतीं। ऐसी अनेकानेक विषमताओं के रहते स्वप्न-सादृश्य से जागृति तथा उसके विषयों को असार सिद्ध करने का विज्ञानवादियों का प्रयास शब्दच्छल मात्र ही है ऐसा यदि कोई कहे तो क्या यह गलत होगा? केवल 'चेतन' शब्द के प्रयोग-साम्य से सुस्पष्ट, सार्वजनीक अनुभवगोचर पदार्थों को असत्य साबित करना अनुभव-विरुद्ध तो है ही, अतर्क-संगत भी है।

यहां यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि देकार्त के सर्वसंदेहवाद या बौद्धों के विज्ञानवाद का खंडन उपर्युक्त युक्तियों का मंतव्य नहीं है। ये दोनों विचार सही भी हो सकते हैं। इन के आधारभूत तर्कों की यहां चर्चा इसी लिए की गयी जिससे इनकी अनुभव-विरुद्धता स्पष्ट हो और इनके समर्थनार्थ प्रस्तुत किये गये तर्कों की शुद्ध शाब्दिकता प्रकट हो। यदि एकमात्र इस प्रकार के तर्कों की सहायता से दर्शन में खंडन-मंडन चलता रहे, जैसाकि यह पश्चिमी दर्शन में बराबर चलता रहा है, तो किसी भी दार्शनिक समस्या का पूर्णतया अंतिम समाधान प्राप्त कर सकने की आशा करना व्यर्थ ही है। पुनः पुनः वे ही समस्याएं नये नये परिप्रेक्ष्य में उठायी जाती रहती हैं, कुछ समय तक उनकी अनुकूल-प्रतिकूल चर्चा बड़ी उत्कटता के साथ चलायी जाती है और जब कोई नयी बात कहने लायक शेष नहीं रह जाती, या विचारकों को वह सूझ नहीं पड़ती तब विवाद-विषयभूत समस्या के प्रति एक प्रकार की उदासीनता उत्पन्न होने लगती है। विगत कुछ दशकों में तार्किक भाववाद, राइल का भाषीय व्यवहारवाद, स्टिवेन्सन का प्रवर्तनावाद, नैतिक वाक्यार्थों से सम्बद्ध अन्य विविध वाद-संबंधी वाद-विवादों के उतार-चढ़ाव को तथा इन सबके प्रति आज दार्शनिक जगत् में उपलभ्यमान् उदासीनता को देखने पर उपर्युक्त कथन को प्रमाणित करने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। तार्किक भाववादियों ने जैसी त्रुटियां पारपरिक दर्शनों की प्रकाश में लायी हैं वैसी ही त्रुटियां उनके दर्शन में तथा उनकी भूमिका का पुरस्कार करने वाले उपर्युक्त दर्शनों में भी प्रकट होने से ही भाववाद तथा ये अन्य दर्शन अब चिन्तन की कक्षा से बहिर्भूत से हो गये हैं।

इस सम्बन्ध में भारतीय दर्शनों की स्थिति कुछ विस्मयजनक है। इन दर्शनों में परस्पर आक्षेप-प्रत्याक्षेप बराबर होते रहे हैं। आस्तिक-नास्तिक विचार-संप्रदायों का परस्पर विरोध तो ऐकान्तिक-सा है। तथापि किसी भी भारतीय विचारक ने कभी भी दार्शनिक

विचार को निरर्थक, उद्देश्यहीन, शब्दच्छल मात्र ठहराने का कभी प्रयास नहीं किया। चार्वाकों ने तो वैदिक संप्रदाय के अनुयायियों को भंड, धूर्त, राक्षस आदि विशेषणों से भी उपवर्णित किया किन्तु उनके दार्शनिक विचार को निरर्थक शब्द-जाल कहने का साहस नहीं किया। कारण क्या हो सकता है ? क्या यही नहीं कि सभी भारतीय विचारक दर्शन को बुद्धिकौशल के प्रदर्शन का साधन नहीं समझते थे ? वे दार्शनिक-सिद्धान्तों को व्यवहार्य अतएव दैनंदिन जीवन का एक आवश्यक अंग समझते थे। उनके विचार में यदि किसी दार्शनिक तथ्य का सत्य के रूप में किसा ने पुरस्कार किया तो उसे उस तथ्य के वाचिक पुरस्कार के साथ ही अपने आचरण में उसे उतारना अनिवार्यतया आवश्यक प्रतीत होता था। 'मैं इस बात को सत्य समझता हूं लेकिन मैं इसके अनुरूप कोई कार्य न करूंगा, न कर सकता हूं' ऐसा कहना या समझना सभी भारतीय मनीषी वदतोऽव्याघात रूप ही मानते थे। इसलिये भारतीय दर्शन में प्रवृत्ति-व्याघात को एक महत्त्वपूर्ण प्रमाण माना गया है। उदयनाचार्य कहते हैं—

'व्याघातावधिः आशंका न चेत्, शंका कुतस्तराम् ?'

संदेहवाद तभी तक टिक सकता है जब तक शंका प्रदर्शित करने वाले व्यक्ति की प्रवृत्ति-निवृत्ति के साक्ष्य का बिचार न किया जाय। बुद्धिपूर्वक जो प्रवृत्ति-निवृत्तियां घटित होती हैं उनके पीछे व्यक्ति की वास्तविक आंतरिक निश्चय की प्रेरणा हुआ करती है। अक्सर अपने इस निश्चय के विरुद्ध केवल पौढ़िवाद के रूपमें व्यक्ति मत-विशेषों का यौक्तिक समर्थन करता रहता है। ऐसे मतों को 'आहार्य' कहा जाता है और इन्हें इनका समर्थक ही गलत समझता है। ऐसे मत जल्प, वितंडा तथा छल-रूप वाद-विवाद की विधाओं में, जिनका मुख्य उद्देश्य प्रतिवादी को पराजित करना ही हुआ करता है, प्रस्तुत किये जा सकते हैं, किन्तु जिस चर्चा को 'तत्त्व-बुभुत्सोः कथावादः' ऐसा परिभाषित किया गया है उसमें ये मत विचार्य हो ही नहीं सकते।

यद्यपि वेदान्त-दर्शन ने ही सत्य और चैतन्य की अभिन्नता का प्रतिपादन किया है तथापि भारत के सभी दर्शनों (चार्वाक सहित) ने सत्य और चैतन्य या अनुभव के पारस्परिक अंतरंग संबंध को स्वीकार कर ही दार्शनिक विचार चलाया है। यही कारण है कि जैन, शैव, वैष्णव, अद्वैत वेदान्ती, विशिष्टाद्वैत वेदान्ती, द्वैत वेदान्ती आदि अन्यान्य दर्शनानुयायियों की अपनी अपनी आचार-सहितायें हैं जिनका ये सब आज भी अनुसरण करते दिखाई देते हैं। जैन दर्शन में जीव एक मूल तत्त्व माना गया है। इसी कारण अहिंसा जैनों की "आचार-संहिता" का प्रमुख अंग मानी गयी है अब यदि अहिंसा का एक तत्त्व के रूप में स्वीकार करना हो तो सूक्ष्मातिसूक्ष्म कृमि-कीटों की भी हिंसा टालना प्रत्येक जैनमतानुयायी का कर्त्तव्य हो जाता है। इस कर्त्तव्य को निभाने के लिए ही आज भी मुँह पर पट्टी बांधे, हाथ में चँवर तथा नंगे पैर जैन साधु प्रायः ही दिखायी पड़ते हैं। विहारों में रहने वाले बौद्ध भिक्षुओं की दिनचर्या भी बौद्ध विनय या आचार-धर्म के अनुसार ही चलती प्रायः दृग्गोचर होती है। शैव, वैष्णव मतावलंबी आज भी भरसक अपने-अपने दार्शनिक विचारों को आचरण में उतारने के लिए प्रयत्नशील हुआ करते हैं। यद्यपि आज के वैज्ञानिक युग में इस प्रकार की विभिन्न आचार-पद्धतियां बेतुकी प्रतीत होती हैं और किसी भी दार्शनिक विचार के अक्षरशः पालन की समाज बिलकुल अपेक्षा नहीं करता तथापि स्वीकृत सत्य को अनुभव-विषय बनाने के लिये सामान्य

भारतीय विचारक भी कितने उत्सुक होते हैं यह बात इन आचार-पद्धतियों के माध्यम से स्पष्टतया हमारे सामने आती है।

आधुनिक दार्शनिक तात्त्विक समस्याओं के अंतिम या आंशिक समाधान को उतना महत्त्व नहीं देते जितना उन समस्याओं को ठीक तरह प्रस्तुत करने को। यह बात प्रसिद्ध दार्शनिक जॉर्ज मूर तथा कुछ अन्य दार्शनिकों ने भी कही है। ठीक इसके विपरीत शंकराचार्य कहते हैं कि 'ब्रह्म–जिज्ञासा' ऐसी ब्रह्म-विषयक जिज्ञासा नहीं समझनी चाहिये जिसका पूर्ण समाधान न हो सके। ब्रह्मावगति तक बनी रहने वाली जिज्ञासा ही वास्तविक ब्रह्म-जिज्ञासा है। यदि जिज्ञासा तीव्र हो तो उसकी परिणति ब्रह्म-ज्ञान में होने में संदेह की कोई गुंजाइश नहीं है। ब्रह्म-ज्ञान-प्राप्ति से ही दार्शनिक समस्याओं तथा शंकाओं का पूर्ण समाधान संभव है अन्यथा नहीं यह बात एक सुप्रसिद्ध श्लोक में कही गयी है। श्लोक इस प्रकार है–

भिद्यते हृदयग्रंथि, छिद्यंते सर्वसंशयाः
क्षीयंते चास्य कर्माणि, तस्मिन् दृष्टे परात्मनि।

अर्थात् परात्मा या ब्रह्म के साक्षात्कार से सभी संदेह, सभी कर्म तथा सभी मानसिक उलझनें नष्ट हो जाती हैं।

ब्रह्म-ज्ञान या दार्शनिक तथ्यों का ज्ञान अनुभव की ही उच्च कोटि की विधायें हैं। ऐन्द्रिय ज्ञान में जितनी निश्चयात्मकता होती है उतनी ही या उससे भी अधिक दार्शनिक ज्ञान में निश्चयात्मकता होती है ऐसा भारतीय दार्शनिक मानते हैं। 'दर्शन' शब्द ही इस अर्थ से प्रयोग में लाया गया है। दर्शन दार्शनिक तथ्यों, जैसे सांख्य, में प्रकृति, महत्, अहंकार आदि का, वैशेषिक में द्रव्य, गुण, कर्म आदि पदार्थों की जातियों, उपाधियों आदि का साक्षात्कार है जो दर्शनकार ऋषि-मुनियों को प्राप्त था। इसी कारण ऋषियों का 'साक्षात्कृत धर्माणो हि ऋषयः' ऐसा वर्णन किया गया है। दार्शनिक तथ्यों का साक्षात्कार किस प्रकार का होगा ऐसा यदि प्रश्न हो तो उसका उत्तर यह है कि भौतिक वस्तुओं के ऐंद्रिय साक्षात्कार में विषय-वस्तुओं के अग या गुणीभूत होकर उनके सामान्य आदि धर्म ज्ञात हुआ करते हैं। इन धर्मों का ही प्रमुखता से दर्शन में विचार किया जाता है। सम्मुख उपस्थित वृक्ष को देखने पर वृक्ष में वृक्षत्व-रूप सामान्य अनदेखा नहीं रहता। लेकिन वृक्ष के प्रत्यक्ष में गुणीभूत होकर ही वृक्षत्व गृहीत होता है। इस कारण वृक्षत्व की वृक्ष-भिन्न सत्ता स्पष्टतया ज्ञात नहीं होती। यदि कोई ऐसा प्रत्यक्ष घटित हो जिसमें वृक्षत्व मुख्य विषय और वृक्ष इस के अंग या गुण के रूपमें ही प्रतीत हो तो दृश्य विश्व का रूप ही बदल जायगा। ऐसा प्रत्यक्ष संभाव्य नहीं। सुप्रसिद्ध दार्शनिक कांट जिस प्रत्यक्ष को बौद्धिक अन्तर्दृष्टि (इटलेक्चुअल इंट्यूशन)' कहता है और जिस ईश्वर को ही प्राप्य मानता है वह इसी प्रकार का प्रत्यक्ष हो सकता है। सामान्य प्रत्यक्ष, जो मनुष्य को अधिगत है वह स्थल-कालोपाधियों से परिच्छिन्न वस्तुओं के संबंध में ही घटित होता है। इसका कारण प्रत्यक्षकर्त्ता मनुष्य का शरीरी होना और प्रत्यक्ष-साधन इंद्रियों का शरीराधिष्ठित होना है। शरीर तथा इन्द्रियों के लिए प्रदत्त वस्तु दैशिक ही हो सकती है। दैशिक वस्तु ही जब मनोवृत्तियों के सम्मुख प्रस्तुत होती है तब वह कालिक रूप धारण करती है। ईश्वर का न शरीर है न मन। अतः उसके सम्मुख सभी विषय निरुपाधिक रूप से ही प्रस्तुत हो सकते हैं। विषयों का ग्रहण ईश्वर इद्रियों के द्वारा नहीं बुद्धि

के द्वारा ही और वह भी साक्षात्कार के रूप में ही करेगा। हमारी मर्यादित बुद्धि की जो द्रव्य, गुण, संबंध आदि वर्गणायें हैं उन का ईश्वर की बुद्धि में कोई स्थान नहीं हो सकता। हमारे लिए जैसे इंद्रियां हैं वैसे ही ईश्वर के लिए बुद्धि है और दर्शन-निर्माता ऋषियों के लिए अन्तर्दृष्टि है, जिसके द्वारा वे दार्शनिक तथ्यों का साक्षात् दर्शन कर पाते हैं।

कांट ने बौद्धिक साक्षात्कार की बात बतायी। यह उसके विचार में ईश्वर को ही प्राप्य होने के कारण इस साक्षात्कार के साधन की चर्चा उसने नहीं की। भारतीय विचारक क्योंकि ऋषि-मुनियों के लिये भी इस साक्षात्कार की संभावना स्वीकार करते हैं अतः उसके साधनों का उन्होंने विस्तार से विचार किया है। श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन ये वे क्रमिक साधन हैं। श्रवण दार्शनिक तथ्यों के सम्बन्ध में सब प्रकार की जानकारी प्राप्त करना है। मनन अपने ही साथ श्रवण-विषयों पर चिन्तन करना है जिससे इन विषयों की सत्यता का पूर्ण प्रत्यय हो सके, निदिध्यासन शरीर-भावना-रहित सतत अनुसंधान है जिससे अनुसंधान-विषयों का वास्तविक बुद्धिगम्य रूप उभरकर सामने आता है। इन्द्रिय-विषय-वस्तुओं में दार्शनिक तथ्य अन्तर्निहित ही रहते हैं किन्तु ऐन्द्रियक वस्तु-साक्षात्कार में गुणीभूत रूप से ही ये तथ्य-विषय होते हैं। निदिध्यासन से ही इन्हें वस्तुओं से अलगाकर विचारक अपने मनश्चक्षुओं या बुद्धि के सामने लाने में सफल होता है। गीता में इसी ध्यान-प्रक्रिया को 'बुद्धि-योग' की संज्ञा ('ददामि बुद्धियोगं तं येन मां उपयान्ति ते') दी है। ऐन्द्रियक प्रत्यक्ष शुद्ध ऐन्द्रियक नहीं होता, उसमें बुद्धि का योग ईषन्मात्रा में समाविष्ट होता है। इस बुद्धि-योग की मात्रा को बढ़ाकर ही दार्शनिक तथ्यों का ऐन्द्रियक प्रत्यक्ष के ही समान किन्तु उनसे कहीं उत्कट प्रत्यक्ष प्राप्त करना संभव है।

भारतीय दर्शनों में आस्तिक-नास्तिक परंपरायें अनुभव-प्रामाण्य के स्वीकार-अस्वीकार के कारण ही विकसित हुई हैं। सभी आस्तिक दर्शन दार्शनिक तथ्यों के सम्बन्ध में अन्तिम प्रमाण के रूप में श्रुति को, याने ऋषिमुनियों के आध्यात्मिक अनुभव को, जो उपनिषत्, गीता आदि ग्रन्थों में संकलित हैं, स्वीकार करते हैं। तर्क का कार्य इन अनुभवों के स्वरूप, विषय तथा आंतरिक संगति को यथावत् समझना ही है। तर्क अनुभव का निर्माण नहीं कर सकते, न ही वे किसी आध्यात्मिक अनुभव की सत्यासत्यता का कोई स्वतंत्र प्रमाण प्रस्तुत कर सकते हैं। तर्क केवल अनुभवों से सही निष्कर्ष प्राप्त करने में सहायक हो सकता है: तर्क को स्वतंत्र प्रमाण के रूप में कभी स्वीकार नहीं किया जा सकता। रसेल एक प्रसंग में कहते हैं कि 'विश्व पांच ही मिनट पहले उत्पन्न हुआ' ऐसा यदि माना जाय तो इसमें कोई तर्क-दोष नहीं बताया जा सकता। "पांच मिनट पूर्व की (तथाकथित) सारी बातों की स्मृति और (तथाकथित) पूर्वतन घटनाओं के कार्य सब अकस्मात् और नये सिरे से उत्पन्न हुए हैं ऐसा मानने में तर्कतः कोई दोष नहीं है। फिर भी ऐसा हम नहीं मानते। इस का कारण यही है कि तर्क से कहीं अधिक अनुभव को हम विश्वसनीय समझते हैं।" शंकराचार्य ने इसी विचार से तर्क को अप्रतिष्ठ या प्रमाण के रूप में अग्राह्य बताया है। श्रुति-सम्मत, याने आध्यात्मिक अनुभव से संगत या उसके समर्थक तर्क के पुरस्कार को ही ('श्रुतिमतः तर्कोऽनुसंधीयताम्') उन्होंने उचित कहा है।

आधुनिक पश्चिमी चिन्तन अनुभव से कहीं अधिक तर्क को महत्त्व देता है। इस बात का सबसे बड़ा प्रमाण आधुनिक दर्शन की सामान्य अनात्मवादी प्रवृत्ति है। शंकराचार्य ने आत्मा के सम्बन्ध में कहा है कि "न हि जातु कश्चित् संदिग्धः अहं वा नाहं वेति, य एव निराकर्ता तदेवास्य स्वरूपम्।' (कोई भी कभी यह संदेह नहीं करता कि 'मैं हूं या नहीं।' 'मैं नहीं हूं' ऐसा आत्म-निराकर्ता भी मैं या आत्मा ही होता है।) इस प्रकार सब अनुभवों के लिए मूलभूत आत्मरूप तथ्य को भी आधुनिक विचारक तर्क मात्र के आधार पर ही अस्वीकार करने का साहस करते हैं। ऐसा करते हुए वे शंकराचार्य की उक्त बात भुला देते हैं कि आत्म-निरास भी आत्म (रूप विचारक) के द्वारा ही हो सकता है।

अनुभव को प्रमाण मान लेने मात्र से भी दर्शन का कार्य संतोषजनक रूप से संपन्न नहीं हो सकता। अनुभव के अनेक स्तर हैं। ऐन्द्रियक, मानसिक, बौद्धिक, आहंकारिक, आध्यात्मिक आदि। इन स्तरों के बीच में भी अनेक स्तर हो सकते हैं (स्तर-भेदानुसार अनुभवों की सर्वंकषता तथा प्रामाण्य-अप्रामाण्य में फर्क पड़ सकता है। अद्वैत वेदान्ती मधुसूदन सरस्वती ने अपने प्रस्थान-भेद नामक ग्रंथ में इस विषय की चर्चा कर यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया है कि अद्वैत वेदान्त के लिये आधारभूत निर्विशेष आत्मा का अनुभव ही सर्वश्रेष्ठ आध्यात्मिक अनुभव है। अन्य प्रकार के आध्यात्मिक अनुभव इस अनुभव के समकक्ष नहीं होने के कारण उन पर आधारित अन्यान्य दर्शन अद्वैत वेदान्त के अनुगामी ही हो सकते हैं। यह निष्कर्ष सब विचारकों को मान्य होगा ऐसा मानना कठिन है। तथापि आध्यात्मिक अनुभवों के स्तर-भेद से उन पर आधारित दर्शनों में भी स्तर-भेद होता है यह सत्य स्वीकार करने में किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिये।

आधुनिक दार्शनिकों ने दर्शन के सम्बन्ध में भले ही अनुभव-प्रामाण्य का प्रश्न न उठाया हो किन्तु गणित के सिद्धान्तों के संबंध में उन्होंने अनुभव-प्रामाण्य का विस्तृत विचार किया है। इंट्यूशनिज्म, लॉजिसिज्म, तथा फार्मलिज्म नाम से तीन अलग-अलग भूमिकायें गणितज्ञ दार्शनिकों ने गणित के सिद्धान्तों के संबंध में अपनायी हैं। इनमें इंट्यूशनिज्म गणित-संबंधी अनुभववाद है जिसे हिल्बर्ट ने अपनाया है। इस अनुभववाद से गणित का क्षेत्र विस्तृत होने के बजाय सीमित हो जाता है क्योंकि अनंत संख्या अनुभव-विषय न होने से उसको अनुभववाद अस्वीकार कर देता है। फार्मलिज्म गणितीय तार्किकतावाद है जिसके अनुसार संख्यायें पूर्वसिद्ध न होकर वे कुछ अभ्युपगमों से तर्कतः निष्कृष्ट तथ्य मात्र हैं। लॉजिसिज्म अनुभव और तर्क के सामंजस्य को गणित के क्षेत्र में स्वीकार करता है। यह सामंजस्य कैसे प्रस्थापित हो जबकि अनुभव और तर्क के दृष्टिकोण एक-दूसरे से नितान्त भिन्न हैं इस प्रश्न का संतोषदायक समाधान लॉजिसिज्म के पुरस्कर्ता रसेल आदि दार्शनिकों से नहीं प्राप्त होता। यदि यह सामंजस्य प्रस्थापित करना ही हो तो अनुभव को श्रेष्ठ मानकर और तर्क को तदनुसारी समझ कर ही संभव होगा। शंकराचार्य की दर्शनों के सम्बन्ध में ऐसी ही भूमिका है। 'तर्क श्रुति या अनुभव के अनुसारी ही होने चाहिये' ऐसी शंकर की उक्ति ऊपर उद्धृत की ही गयी है।

दर्शन अनुभव का विषय होने के कारण ही भारतीय दर्शन के सभी मूल ग्रन्थों के आरंभ में उस-उस दर्शन के अध्ययन के अधिकारी कौन हो सकते हैं इस प्रश्न की विस्तृत

चर्चा की जाती है। जैसे, अद्वैत वेदान्त के अध्ययन का अधिकारी होने के लिये शम, दम, समाधान, उपरति, श्रद्धा आदि मानसिक तथा शारीरिक गुण-संपन्नता, ऐहिक तथा पारलौकिक सुखों के प्रति अनासक्ति, नित्य गुणों एवं विशेषताओं से युक्त होना आवश्यक माना गया है। यदि कोई भी अनधिकारी व्यक्ति अद्वैत पढ़ने लगेगा तो उसे वेदान्त-ग्रन्थों से शब्दार्थ-बोध भले ही हो शब्दार्थानुसारी अनुभव कदापि प्राप्त नहीं होगा। यह भी संभव है कि विपरीत अनुभवों के प्रभाव से वेदान्त-ग्रन्थों में प्रतिपादित सत्य बातों को वह असत्य ही समझने लगे। जैसाकि मीमांसक कहते हैं "अनधिकारिणा कृतं अकृतं भवति": अनधिकारी व्यक्ति का कोई भी कर्म—ज्ञान भी—निरर्थक ही साबित होता है।

प्रोफेसर्स कोलोनी,
हनुमान नगर, नागपुर

उन्मीलन : वर्ष ४, अंक १
जनवरी, १९८८

4

धर्मों की तात्त्विक एकता अथवा समता का प्रवाद

हर्षनारायण

धर्मों की तात्त्विक एकता का प्रवाद नया है। उसी से लगा यह भी प्रवाद है कि सभी धर्म सच्चे हैं, और समान रूप से सच्चे हैं। प्रस्तुत लेख में इन्हीं मतों की परीक्षा करनी है। किन्हीं का मत है कि केवल एक धर्म सच्चा है। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो सभी धर्मों को असत्य अथवा भ्रामक, अनर्थक अथवा बालिश, व्यर्थ अथवा घातक घोषित करते नहीं अघाते। किन्तु वे प्रस्तुत लेख का विषय नहीं हैं।

सामी धर्मों (यहूदी, ईसाई और मुस्लिम) का स्वर अन्य धर्मों के प्रति बहिर्भावात्मक (एक्सक्ल्यूसिविस्टिक) है; अर्थात् उनके अनुसार वे ही सच्चे हैं, शेष झूठे हैं, अथवा सद्धर्म के विकृत अथवा वीभत्स रूप हैं। वस्तुतः प्रत्येक सामी धर्म अन्य सामी धर्मों के विषय में भी यही धारणा रखता है। यही कारण है कि सामी धर्म, यहूदी धर्म का अपवाद छोड़कर, अन्य धर्मावलम्बियों के धर्मान्तरण को प्रमुखता देते हैं। इस्लाम में सूफ़ी धारा के अन्तर्गत कतिपय महात्मा यदा-कदा अन्य धर्मों से भी सहानुभूति रखते प्रतीत होते हैं। 'मूसा और गडरिया' की आख्यायिका के सन्दर्भ में सूफ़ी कवि-सम्राट् जलालुउद्-दीन रूमी यह सङ्केत देते हैं कि अज्ञानी से अज्ञानी मनुष्य भी ईश्वर की उपासना जैसे चाहे कर सकता है और ईश्वर की प्राप्ति के लिए प्रयत्नवान् हो सकता है। जब हज़रत मूसा ने गडरिये पर अपनी उपासना-पद्धति लादनी चाही तब ईश्वर की ओर से उन्हें फटकार मिली और ईश्वर ने उन्हें यह भी सीख दी—

तू बराए वस्ल-कर्दन आमदी
नै बराए फ़स्ल-कर्दन आमदी

अर्थात् तू जोड़ने के लिए आया है, तोड़ने के लिए नहीं। एक अन्य सूफ़ी हज़्रत निज़ामुऽद्-दीन औलिया ने एक बार यह शेर पढ़ा था—

हर क़ौम रास्त-राहे, दीने, व क़िबलः गाहे

अर्थात् हर क़ौम सन्मार्ग-गामी है, हर धर्म सच्चा है, हर उपासना-पद्धति सच्ची है। तथापि वे कभी-कभी इस के विरुद्ध यहां तक कह जाते थे कि 'काफ़िर हमेशः अ़ज़ाब में रहेंगे' (इस्लामेतरधर्मावलम्बी सदा नरक की यातना भुगतेंगे)।[1] दाराशिकोह कुफ़्र हिन्दू धर्म और इस्लाम दोनों को सच्चा मानकर चलता था। बल्कि वह उपनिषदों को क़ुर्आन पर वरीयता देता था। कबीर, नानक, दादू प्रभृति निर्गुणिया सन्त भी इसी रेखा पर सोचते पाये जाते हैं। दाराशिकोह ने हिन्दुत्व और इस्लाम, अथवा वेदान्त और तसव्वुफ़, दोनों को सच्चा मानते हुए उनके समन्वय में फ़ारसी में **मज्मअुऽल-बह्रैन** और संस्कृत में **समुद्रसङ्गम** शीर्षकाङ्कित पुस्तकें लिखीं। वह उपनिषदों को ईश्वरीय ग्रन्थ मानता था और उन्हें क़ुर्आन का मूल भी मानने के पक्ष में था।

किन्तु तसव्वुफ़ की यह धारा शीघ्र सूख गयी और अब शायद ही कोई मुस्लिम सन्त हो जो उसे पुनः प्रवाहित करने की सोचता हो।

भारतमूलीय हिन्दू धर्म अन्यों के प्रति अन्तर्भावात्मक मनोभाव रखता है। वह अन्यों में भी सद्धर्म का न्यूनाधिक प्रकाश देखता है और स्वधर्म की महिमा बखानते हुए यह जोड़ना नहीं भूलता कि अन्य धर्मावलम्बी (अन्य उपासना-पद्धतियों के अनुयायी) भी परमपद की प्राप्ति के पात्र हैं। **गीता** में स्पष्ट घोषणा है कि उपासना की सभी पद्धतियां अन्ततः परमेश्वर तक पहुँचा देती हैं। फीरोज़शाह तुग्लुक़ के राजत्व-काल में तत्कालीन महा सूफ़ी शैखे जलालुऽद्-दीन बुख़ारी मख्दूमे जहानियाँ जहाँगस्त जब मृत्यु-शय्या पर पड़े हुए थे तब ऊछ प्रान्त का नहावन (नवाहूं ?) नामक हिन्दू दरोग़ा उन्हें देखने आया और श्रद्धाविभोर होकर बोला, "खुदा-ए तआ़ला हज़्रते मख्दूम रा सेहहत दिहद। ज़ाते पाके मख्दूम ख़त्मे औलिया अस्त, चुनाँकि मुहम्मद सल्लल्लाहो अ़लैहे व सल्लम ख़त्मे अंबिया बूद।" अर्थात् ईश्वर मख्दूम को चंगा कर दे। वे अन्तिम सन्त हैं, जैसे मुहम्मद साहेब अन्तिम नबी।" इस पर सन्त ने यह फ़तवा दिया कि उक्त दरोग़ा ने मुहम्मद साहेब को नबी (और इस्लाम को सच्चा धर्म) मानकर आधा कलिमः (इस्लाम का मूल मन्त्र) पढ़ लिया है और अब उसे कलिमः पूरा कर देना चाहिए; अन्यथा यह माना जायेगा कि वह इस्लाम लाने के बाद फिर गया, मुर्तद्द हो गया, जिसका दण्ड मृत्यु है। दरोग़ा के ऐसा न करने पर सुल्तान के आदेश से उसका वध कर दिया गया।'[2] अन्य धर्मों को झूठा मानने का इससे भी सटीक उदाहरण सिकन्दर लोदी के राजत्व-काल में प्रकाश में आया। कहते हैं कि बोधन, लोधन, अथवा योधन नामक ब्राह्मण ने वक्तव्य दिया था—'इस्लाम दीने हक़्क़ मस्त व दीने मन नीज़ दुरुस्त अस्त।' अर्थात्

1. **फ़वाइदुऽल्-फ़वाद** ख्वाजः निज़ामुऽद्-दीन औलिया के मल्फ़ूज़ात, उन के वचनों, का फ़ारसी सङ्ग्रह, उनके साक्षात् शिष्य अमीर हसन अला संजरी अपर नाम ख्वाजः हसन देहलवी-कृत), मुस्लिम अहमद निज़ामी, उर्दू अनु. (**इर्शादे महबूब** शीर्षक से) (दिल्ली: कुतुबख़ान-ए नज़ीरियः, प्रकाशन-वर्ष अनिर्दिष्ट), पृ. 129
2. जमाली **सियरुऽल्-आरिफ़ीन** (दिल्ली: रिज्वी प्रेस, 1311 हिज्री, पृ. 159.)

इस्लाम सच्चा धर्म है और मेरा धर्म भी सही है । उसे भी इस्लाम धर्म-ग्रहण का आदेश हुआ और न मानने पर उसका वध करा दिया गया ।[3]

सभी धर्मों को सच्चा समझने की प्रवृत्ति आधुनिक काल में रामकृष्ण परमहंस से आरम्भ होती है और आज तक चल रही है । रामकृष्ण का कहना था कि विविध धर्म चाहे जिस रंग-ढंग के हों उन सबका तात्पर्य एक ही है; वे सब तत्त्वतः एक हैं, और एक ही परमतत्त्व तक पहुँचने-पहुँचाने वाले हैं । कहा तो यहाँ तक जाता है कि रामकृष्ण ने इस्लाम और ईसाइयत द्वारा प्रतिपादित साधनाएँ भी की थीं और सबको सच्चा पाया था । रामकृष्ण के समानान्तर एच. पी. ब्लैवेट्स्की ने सभी धर्मों-संस्कृतियों में सत्यों-तथ्यों का सङ्कलन करके एक अपूर्व धर्म-रसायन तैयार किया जो उनके महा ग्रन्थ **सीक्रेट डॉक्ट्रिन** और **आइसिस अन्वेल्ड** के रूप में प्रकाश में आया । उन्हीं से प्रेरणा लेते हुए काशी के डॉ. भगवानदास ने **एसेन्शल यूनिटी ऑव् आल रिलिजन्स** शीर्षकाङ्कित ग्रन्थ में सभी धर्मों में तात्त्विक एकता खोज निकालने का दावा किया । गान्धीजी का सर्व धर्म-समानत्व अथवा सर्व धर्म-समभाव प्रसिद्ध ही है । जैसा आगे स्पष्ट होगा, वे सभी धर्मों को सच्चा ही नहीं बल्कि समान रूप से सच्चा मानने के पक्ष में थे । हमारे देश के बाहर फ्रांसीसी विद्वान रेनीगेनों ने एक महा परम्परा (द ट्रेडीशन) के अस्तित्व की चर्चा की जो सभी धर्मों-संस्कृतियों की अस्थि-पञ्जर है । उनके अनुगामी फ्रिथजाफ़ शुआँ (इस्लाम ग्रहण करने पर 'ईसा नूरुऽद्-दीन') ने इस दिशा में व्यापक कार्य किया । उनकी तद्विषयक अनेक पुस्तकों में **ट्रान्सेन्डेन्टल यूनिटी ऑव् रिलिजन्स** विशेषतः उल्लेख्य है । इसी परम्परा में त्सिमर, आनन्दकुमार स्वामी, मर्सिया एलिआडे प्रभृति की भी गणना है । कई भारतीय विश्वविद्यालयों में विशेषतः समाजशास्त्रियों के बीच आनन्द कुमार स्वामी को विशेष महत्त्व प्राप्त है । इस परम्परा के पोषक एक सनातन धर्म/दर्शन (पेरेनियल रिलिजन/फ़िलॉसॉफ़ी) की सत्ता स्वीकार करते हैं जो सभी धर्मों-दर्शनों-संस्कृतियों की आधारशिला है । इस प्रकार उनकी दृष्टि से सभी धर्म मूलतः-तत्त्वतः एक हो जाते हैं ।

रामकृष्ण ने 19 सितम्बर 1884 को दावा किया कि उन्होंने पहले पुराण-प्रतिपादित साधना की, फिर तन्त्र-प्रतिपादित साधना की और अन्ततः वेदों में प्रतिपादित साधना की । 12 अप्रैल 1885 को उन्होंने दावा किया : "मैंने सभी प्रकार की साधनाएं कीं और उनमें अनेक चामत्कारिक अनुभव किये ।" उन्होंने इन साधनाओं का वर्णन किया है जो सबकी सब हिन्दू संदर्भ की प्रतीत होती हैं । उनके शिष्यों का कहना है कि उन्होंने इस्लाम और ईसाई साधनाएं भी की थीं । किन्तु उनका उल्लेख उनके अपने शब्दों में नहीं प्राप्त होता । कहते हैं कि इस प्रकार की साधनाओं का उल्लेख सर्वप्रथम स्वामी सारदानन्द द्वारा लिखित जीवनी **श्री रामकृष्ण: द ग्रेट मास्टर** में प्राप्त होता है । सारदानन्द का रामकृष्ण से सम्पर्क केवल दो वर्ष रहा जिसके बाद रामकृष्ण का शरीरपात हो गया । उक्त जीवनी तो उसके भी पच्चीस वर्ष बाद लिखी गयी । अस्तु, इस पुस्तक में भी इस्लामी-साधना विषयक सामग्री केवल एक पृष्ठ में आ गयी है । इस पुस्तक से यह भी प्रकट होता है कि रामकृष्ण ने इस्लामी

3. अब्दुऽल्लाह, **तारीख़े दाऊदी**, शैख अब्दुऽर्-रशीद, सं. (अलीगढ़: अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, 1954), पृ. 59-60. ख्वाजः निजामुऽद्-दीन अहमद **तबक़ाते मक्बरी**, खण्ड 1, पृ. 322-323

और ईसाई साधनाओं में कुल तीन-तीन दिन लगाये। स्वामी निखिलानन्द लिखते हैं कि 1866 ई. के अन्त में स्वामी रामकृष्ण ने गोविन्दराय नामक हिन्दू के, जो मुसलमान हो गया था, निर्देशन में इस्लामी साधना आरम्भ की और तीन दिन के बाद उन्होंने एक ज्योतिर्मय आकृति देखी जो धीरे-धीरे बढ़ते हुए स्वामी रामकृष्ण में समा गयी। स्वामी सारदानन्द उक्त आकृति को अनाम छोड़ देते हैं। स्वामी निखिलानन्द उसके विषय में अटकल लगाते हैं कि शायद वह मुहम्मद हों, और बाद के लोगों ने दृढ़ विश्वास कर लिया कि वह मुहम्मद की ही आकृति थी। नवम्बर 1874 में स्वामी रामकृष्ण ने बाइबिल के कुछ पाठ सुने। एक दिन उन्होंने दीवार पर मैडोना और बच्चा देखा और उन्हें समाधि लग गयी। वे इस अवस्था में तीन दिन रहे जिसके अन्त में उन्होंने एक ज्योतिर्मय आकार देखा जो पूर्वोक्त प्रकार से उन्हीं में समा गया। इसे स्वामी सारदानन्द ईसा का दर्शन बतलाते हैं। स्वामी निखिलानन्द के अनुसार इस दर्शन का प्रभाव मुहम्मद के दर्शन के प्रभाव से भी तीव्रतर था। इसी आधार पर रामकृष्ण के अनुयायियों का एक वर्ग यह मानता है कि पैगम्बरों में भी छोटे-बड़े का भेद होता है। यह भी कहा जाता है कि इस्लामी साधना के दौरान रामकृष्ण 'अल्लाह' का जाप करते थे और दिन में तीन बार नमाज़ पढ़ते थे। तब वे एक मुसलमान की तरह ही पहनावा करते और भोजन करते। यहां तक कि उन्होंने एक कुत्ते का सूक्ष्म रूप धारण कर एक मरी हुई गाय का मांस भी चखा था (किन्तु इस्लाम में तो मुर्दार-भोजन हराम है ?) यह भी कहा जाता है कि इस्लामी और ईसाई साधनाओं के दौरान हिन्दू देवी-देवता उन्हें विस्मृत हो जाते थे।[4]

कहा जाता है कि स्वामी रामकृष्ण ने इस्लामी साधना की सफलता के निमित्त अस्थायी रूप से इस्लाम ग्रहण कर लिया था। यदि ऐसी बात है तो इस्लाम छोड़ अन्य साधनाओं में प्रवृत्त हो जाने पर वे इस्लाम से फिरे हुए माने जायेंगे और इस्लाम से फिर जाने, मुर्तद्द हो जाने, वाले के लिए इस्लाम प्राणदण्ड का विधान करता है। अतः अस्थायी-रूप से इस्लाम लाना और कुफ्र में बने रहना दोनों में बराबर हैं।

उक्त विवरण से पता चलता है कि हिन्दू-पद्धति से साधना करने पर स्वामी रामकृष्ण हिन्दू देवी-देवताओं का साक्षात्कार करते थे, मुस्लिम-साधना-पद्धति से मुहम्मद साहेब का साक्षात्कार करते थे, और ईसाई-पद्धति द्वारा ईसा मसीह को प्राप्त करते थे। तो फिर सभी पद्धतियों की एकता कैसे ? प्रत्येक पद्धति किसी विशेष उपास्य तक पहुँचाती है। सभी धर्म-पद्धतियों की एकता तो तब सिद्ध होती जब उन सब में या तो एक ही उपास्य की प्राप्ति होती अथवा सभी की प्राप्ति हो जाती। अतः स्वामी रामकृष्ण का सब धर्मों की एकता का सिद्धान्त उन्हीं की प्रक्रिया से निराधार सिद्ध होता है।

भगवानदास-कृत ऊपर निर्दिष्ट ग्रन्थ विविध धर्मों के ग्रन्थों से उद्ध्रियमाण सूक्तियों का सग्रह मात्र है, जिनके आधार पर इतना बड़ा दावा नहीं किया जा सकता कि सभी धर्म तत्त्वतः एक हैं। यह ग्रन्थ धर्मों के पारस्परिक विवाद-पदों पर भी प्रकाश नहीं डालता, उनकी परीक्षा और समन्वय की सिद्धि तो दूर की बात है।

4. राम स्वरूप, Ramakrishna Mission in Search of a New Identity (नयी दिल्ली: वॉयस ऑव इण्डिया, 1986), जिससे मिशन-सम्बन्धी तथ्य लिये गये हैं।

गान्धी, विनोबा और इनके अनुयायियों का आग्रह है कि सभी धर्म समान रूप से सच्चे हैं। गान्धी जी लिखते हैं "सभी धर्म सच्चे हैं, वे समान रूप से सच्चे हैं; मेरा दावा है कि सभी धर्म समान हैं, सभी पैगम्बर समान हैं, वे समान रूप से सच्चे हैं। मुझे यह मानने में कोई हिचकिचाहट नहीं कि कुर्आन उतना ही ईश्वर-वचन है जितना बाइबिल, ज़न्द, अवेस्ता, ग्रन्थ साहेब तथा कोई भी अन्य स्वच्छ शास्त्र।"[5]

यह सिद्धान्त अटपटा लगता है। संसार के किसी धर्मग्रन्थ से इस मत का पोषक एक भी वचन उद्धृत नहीं किया जा सकता। जलालुऽद्-दीन रूमी के उपदेश का उल्लेख हम कर आये हैं। वे भी 'सब सच्चे' सिद्धान्त की कड़ी आलोचना करते हुए लिखते हैं—

आँ की गोयद जुम्लः हक्क अस्त अहमकीऽस्त
वँऽऽकि गोयद जुम्लः बातिल आँ शकीऽस्त

अर्थात् जो कहता है कि सब सच्चे हैं वह वज्र मूर्ख है, और जो कहता है कि सब झूठे हैं वह दुष्ट है। सहस्र वर्ष पूर्व प्राचीन नैयायिकप्रवर जयन्त भट्ट लिखता है—

सर्वागमप्रमाणत्वे नन्वेवमुपपादिते,
अहमप्यद्य यं कञ्चिदागमं रचयामि चेत्,
तस्यापि हि प्रमाणत्वं दिनैः कतिपयैर् भवेत्।[6]

अर्थात् यदि सभी धर्म सच्चे हों तब तो यदि मैं भी आज एक धर्म चला दूँ तो वह कालान्तर में सच्चा हो जायेगा!

इस सम्बन्ध में **महाभारत** में एक पते की बात कही गयी है, जो इस प्रकार है—

तुल्यं शौचं तपोयुक्तं, दया भूतेषु चानघ!
व्रतानां धारणं तुल्यं, दर्शनं न समं तयोः।[7]

अर्थात् अनेक धर्मों में तपोयुक्त पवित्रता, प्राणियों के प्रति दया, और व्रत-धारण तुल्य हैं, किन्तु उनके दर्शन समान नहीं हैं।

यामुनाचार्य का तो कथन है कि धर्मों और परम्पराओं में भेद सोद्देश्य है, उनमें घालमेल नहीं करना चाहिए:

शैवं, पाशुपतं, सौम्यं, लागुडं च चतुर्विधम्
तन्त्रभेदः समुद्दिष्टः, सङ्करं न समाचरेत्।[8]

पूर्वमीमांसक प्रवर कुमारिल भट्ट अपनी बृहट्टीका में विवध सम्प्रदायों के बीच मतभेद की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए उनकी एकता और समानता का खंडन करते हैं—

तीर्थकृत्समयानां च परस्परविरोधतः
सर्वेषामाप्तता नास्ति, काश्चिदेव भवेद् गुरुः।

5. **साबरमती**, 1928, पृ. 17; **हरिजन** 30.1.1937, 13.3.1937; **यंग इण्डिया** 25.9 1924.
6. जयन्त भट्ट, **न्यायमञ्जरी**, प्रमाण-प्रकरण, पृ. 248.
7. **महाभारत**, शान्ति-पर्व 300-9.
8. यामुन, **आगमप्रामाण्य** 109.

अर्थात् धर्मों में परस्पर विरोध की यह स्थिति है कि उन सब को सच्चा नहीं माना जा सकता, उनमें से कोई एक ही सच्चा हो सकता है ।

कुर्आन का दावा है कि धर्म वस्तुतः एक है जो विविध रूपों में, विवध देशों-कालों में पैगम्बरों द्वारा उपदिष्ट होता आया है । हर जाति और हर युग में ईश्वर की ओर से पैग़म्बर आते रहे हैं और एक ही अर्थ (अद्-दीन) का प्रचार करते रहे हैं ।[9] मुहम्मद साहिब को ईश्वर ने उसी धर्म का उपदेश किया है जिसका उपदेश उसने नूह, इब्राहीम, मूसा और ईसा को दिया था ।[10] मौलाना अबुऽल्-कलाम आज़ाद धर्मों की एकता (वहदतुऽद्-दीन) के प्रबल पोषक थे ।

किन्तु कुर्आन का सूक्ष्म अध्ययन करने पर पता चलता है कि प्रस्तुत प्रसङ्ग में केवल सामी जातियां, सामी इतिहास. सामी पैग़म्बर अभिप्रेत हैं । उसमें एक आयत में स्पष्ट सङ्केत है कि अल्लाह की पुस्तकें केवल दो जातियों (अला ताइफ़तैन)—यहूदी और ईसाई—पर उतरी थीं ।[11] अन्यत्र यह भी कहा गया है कि पैग़म्बरी इस्राईल वंशावली (बनी इस्राईल) के लिए सुरक्षित है ।[12] इस्राईल वंश का अर्थ है पैग़म्बर याक़ूब का वंश । हज़रत याक़ूब के बारह पुत्र थे जो यहूदियों के बारह वंशों के आदि पुरुष हुए । इन्हीं की वंशावली की सम्मिलित संज्ञा बनी इस्राईल । इस्राईल-वंशावली है । पैग़म्बरी इसी वंशावली के लिए सुरक्षित है । प्रसङ्गतः यहाँ एक समस्या उठ खड़ी होती है । मुहम्मद साहेब बनी इस्माईल के वंशज थे, बनी इस्राईल के नहीं । तो उन्हें पैग़म्बरी कैसे मिल गयी ? किन्तु इस पर विचार का यह अवसर नहीं है ।

अस्तु, इससे यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि प्रस्तुत सन्दर्भ में कुर्आन में 'सारी जातियाँ' केवल सामी जातियाँ हैं और कि वह केवल सामी धर्मों की मौलिक एकता का दावा करता है । निश्चय ही कुर्आन के अनुसार मूर्ति-पूजक, बहुदेव-पूजक धर्म अधर्म हैं, कुफ़्र हैं, शिर्क हैं ।

कुर्आन की एक अन्य आयत में कुछ लोगों को सर्वधर्म समभाव का प्रतिबिम्ब दिखायी पड़ता है । वह आयत है—"ल-कुम् दीनु-कुम् व लिय दीन' (तुम्हारे लिए तुम्हारा धर्म और मेरे लिए मेरा धर्म) ।[13] वस्तुतः इसमें ऐसा कुछ भी नहीं । यह कुर्आन के 109वें प्रकरण (सूरः), सुरतुऽल-काफ़िरून, की छठी और अन्तिम आयत है । पूरा प्रकरण देखना चाहिए—'कुल् या अय्युहल्काफ़िरून ! ला अऽबुदो मा तऽबुदून । व ला अन्तुम् आबिदून मा अऽबुदो । व ला अना आबिदुम् मा अबत्तुम् । व अन्तुम आबिदून मा अऽबुदो । ल-कुम् दीनुकुम् व लिय दीन ।' शब्दार्थ सुनिए—'हे काफ़िरो ! मैं नहीं पूजता जिसे तुम पूजते हो । और तुम नहीं पूजने वाले जिसे मैं पूजता हूं । और मैं नहीं पूजने वाला जिसे तुम पूजते हो ।

9. कुर्आन 10.47.13.7; 28.75; 35.24
10. तत्रैव 32.13
11. तत्रैव 6.157
12. तत्रैव 2.47; 5.20; 45.16
13. तत्रैव 109.6

ग्रौर तुम नहीं पूजने वाले जिसे मैं पूजता हूं। तुम्हारे लिए तुम्हारा दीन और मेरे लिए मेरा दीन।' स्पष्ट है कि यह कुफ़ के साथ समभाव का स्वर नहीं है। इब्न कसीर जैसा प्रथम कोटि का भाष्यकार लिखता है कि यह कुफ़ से बेज़ारी अथवा रुष्टता, अप्रसन्नता की घोषणा है। ग्रौर अन्तिम ग्रायत (तुम्हारे लिए तुम्हारा दीन और हमारे लिए हमारा दीन) जलालुऽद्-दीन सुयूती जैसे प्रामाणिक भाष्यकार के अनुसार जेहाद-प्रतिपादक ग्रायत द्वारा मन्सूख़ (निरस्त) हो गयी।[14] यही बात मुल्ला हुसैन वाइज़ काशिफ़ी ने **तफ़सीर हुसैनी** में तथा अन्य प्रामाणिक (अरबी और फारसी) भाष्यकारों ने भी कही है।[15]

अच्छा, सब धर्मों की एकता अथवा समता का अर्थ क्या है? इतने अर्थ सूझते हैं—

1. एकरूपता/समरूपता (यूनीफ़ॉर्मिटी/फ़ॉर्मल आइडेन्टिटी)
2. एकतत्त्वता/तात्त्विक एकता
3. एकमूलता
4. एकाङ्गिकता/समाङ्गिकता/सहाङ्गिकता
5. एकाराध्यता
6. एकार्थता/एकसाध्यता/एकप्रयोजनता/एकगन्तव्यता
7. एकसाधनता
8. परिप्रेक्ष्यभेद और अधिकारभेद पूर्वक तात्त्विक एकता

जब हम धर्मों की एकता/समानता की बात करते हैं तो हमें कौन-सा अर्थ विवक्षित होता है?

सब धर्मों को एकरूप मानने का प्रश्न नहीं उठना चाहिए, उनकी बहुरूपता प्रत्यक्ष है। धर्मों की एकरूपता का पोषक शायद ही कोई मिले।

अब एकतत्त्वता पर विचार कीजिए। यहाँ तत्त्व से क्या तात्पर्य है? इस्लाम ईश्वरोपासना-प्रधान धर्म है जब कि मौलिक बौद्ध धर्म में उपासना का स्थान नितान्त गौण है। बौद्ध धर्म की मूलधारा में सृष्टिकर्ता के लिए भी कोई स्थान नहीं है, अथवा परिभाषित नहीं है। हिन्दू धर्म आत्मा के नित्यत्व का आग्रही है, जबकि बुद्ध के अनुयायी अनात्मवादी हैं और नित्य आत्मा के खण्डन में चार्वाकों से भी अधिक मुखर हैं। ईसाई ईसा मसीह में अटूट आस्था के बिना परमपद की प्राप्ति असम्भव मानते हैं, जबकि मुसालमानों के लिए तदर्थ मुहम्मद में आस्था अनिवार्य है। हिन्दू, बौद्ध और जैन धर्म पुनर्जन्म मानते हैं जबकि सामी धर्म मृतोत्थान और क़ियामत में विश्वास करते हैं। हिन्दू, बौद्ध और जैन धर्म मूर्तिपूजक हैं तो इस्लाम धर्म मूर्ति-भंजक आदि, आदि। धर्मों के बीच इतनी व्यापक और प्रगाढ़ विषमताओं के रहते उनमें एकतत्त्वता की बात निरर्थक हो जाती है।

अब क्या धर्मों में एकरूपता सिद्ध की जा सकती है? इस सम्बन्ध में इतना तो मानना ही होगा कि धर्मों के बीच एक बड़ी सीमा तक लेन-देन हुआ है, प्रभाव-विनिमय हुआ है; यह भी विवाद से परे है कि अनेक बड़े धर्मों का मूल पर्याप्त सीमा तक एक है। भारत-

14. जलालुऽद्-दीन सुयूती **तफ़सीरुऽल्-इत्तिक़ान**, उर्दू अनु. फ़स्ल 47, पृ. 62.
15. हुसैन वाइज़ काशिफ़ी **तफ़सीरे हुसैनी** 109,6, ज़र्कशी, **किताबुऽल-बुर्हान.**

मूलीय धर्म सगोत्र हैं, यह मानने में विशेष कठिनाई नहीं प्रतीत होती ।[16] सामी धर्मों का मूल एक ही है, यह मानना और सरल है । कुर्आन का यही निर्णय है । विज्ञ धर्मविद्यावित् भी यही मानते हैं ।[17] यहूदी धर्म का मूल एक बड़ी हद तक ज़रथुष्ट्रीय धर्म प्रतीत होता है, जिसमें भी मतभेद का विशेष अवकाश नहीं । यहूदियों के अनेक मौलिक सिद्धान्त ईश्वर और उसके नाम, ईश्वर और शैतान का शाश्वतिक विरोध, फ़िरिश्तों का अस्तित्व और तद्विषयक अनेक महत्त्वपूर्ण विवरण, सृष्टिविद्या, मृतोत्थान, स्वर्ग और नरक—ज़रथुष्ट्रीय धर्म से परिगृहीत प्रतीत होते हैं ।[18] और ज़रथुष्ट्रीय धर्म और वैदिक धर्म का मूल एक ही है, ऐसा प्रायः सर्वसम्मत है । इस प्रकार विश्व के महान् धर्मों के मूल उत्स कहीं न कहीं जुड़े प्रतीत होते हैं । किन्तु समस्त धर्म एकमूलक हैं, ऐसा कहना युक्तियुक्त नहीं होगा । कम से कम जनजातीय धर्मों की बहुसंख्या को प्राकृत और स्वयम्भू मानना ही होगा, महाधर्मों से व्युत्पन्न अथवा व्युच्चरित मानने का कोई औचित्य नहीं है ।

इसके अतिरिक्त एकमूलक धर्म भी आगे चल कर इतने भिन्न होते गये हैं कि उनका मूलैक्य सार्थक नहीं रह गया है ।

अब चौथे अर्थ पर विचार कीजिए । क्या सभी धर्म किसी एक ही अङ्गी के विविध अङ्ग मात्र हैं ? यहां भी उपरिनिर्दिष्ट महापरम्परावादी/विश्वपरम्परावादी एक विश्व-धर्म-परम्परा को सभी धर्मों का मूल उत्स और अङ्गी मानने पर बल देते हैं । किन्तु उक्त महा-परम्परा अभी तक एक काल्पनिक वस्तु है, जिसकी सिद्धि का कोई मार्ग दिखायी नहीं देता । सम्भव है कि आदिकाल में मानवता को किसी स्रोत से कोई अद्भुत ज्ञानराशि उपलब्ध हुई हो और अनेक परम्पराओं के रूप में साकार हुई हो, किन्तु आगे चलकर ये परम्पराएं इतनी चित्र-विचित्र और परस्पर विलक्षण हो गयीं कि अब उनमें एकता अथवा समता की कल्पना निरर्थक हो गयी है ।

अब एकाराध्यता पर विचार करना चाहिए । क्या सभी धर्मों का आराध्य-उपास्य एक है ? इसका उत्तर नकार में ही दिया जा सकता है । मूल बौद्ध धर्म में आराध्य का प्रश्न नितान्त गौण था, जैसा ऊपर कहा जा चुका है । जैन धर्म का आराध्य कोई एक ईश्वर नहीं अपितु अनेक ईश्वर हैं, जिनमें से कोई भी सृष्टिकर्त्ता नहीं है । यहवे/जेहोवा, अल्लाह, विष्णु, शिव, देवी आदि आराध्य ऊपर से तो एक लगते हैं किन्तु वे भिन्न-भिन्न आध्यात्मिक भूमियों के आराध्य प्रतीत होते हैं । **योगसूत्र** का एक अर्थ-गर्भ सूत्र है—'स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात्' जिस पर **व्यासभाष्य** से यह सूचना प्राप्त होती है कि मधुमती भूमि के स्थानीय देवता साधक को भाँति-भाँति के प्रलोभनों में फँसाना चाहते हैं । प्रलोभनों के जो उदाहरण दिये गये हैं वे स्वर्ग अथवा कुर्आनी जन्नत से मिलते-जुलते प्रतीत होते हैं ।

इष्टदेवता चुनने में साधक-आराधक की प्रकृति भूमिका अदा करती है—

16. हर्षनारायण, 'श्रामण्य और ब्राह्मण्य की सगोत्रता', **कोसल**, III, 1–2 (जुलाई, 1980-जनवरी 1981), 7–21
17. **कुर्आन**, टि. 10, ऊपर; गंगाप्रसाद, **Fountainhead of Religion** (छठा सं., अजमेरः आर्यसाहित्य मण्डल, 1957), अध्याय 1,4.
18. गंगाप्रसाद, उपर्युद्धृत पुस्तक, अ. 4.
19 **योगसूत्र**, विभूतिपाद 51.

कामैस् तैस् तैर् हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ।
यो यो यां यां तनुर् भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ।
यान्ति देवव्रता देवान्, प्रितॄन् यान्ति प्रितृव्रताः
भूतानि यान्ति भूतेज्या, यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ।
सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत !
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो, यो यच्छ्रद्धः स एव सः ।
यजन्ते सात्त्विका देवान्, यक्षरक्षांसि राजसाः,
प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ।[20]

कहते हैं कि कई तिब्बती लामा विचार-रूपों (थॉट-फॉर्म्स) का प्रक्षेपण कर सकते हैं, जो अन्यों द्वारा देखे भी जा सकते हैं और कभी-कभी नियन्त्रण से मुक्त होकर स्वतन्त्र विचरण भी कर सकते हैं ।[21] ये रूप अनजाने भी प्रक्षेपण द्वारा अस्तित्व में लाये जा सकते हैं ।[22] तो क्या विविध आराध्य-उपास्य—देवी देवता, अल्लाह, गॉड आदि—साधकों-आराधकों-उपासकों के प्रक्षेपज पुत्र, मानस पुत्र नहीं हैं ? लगता है कि इसी कारण मीमांसक-प्रवर कुमारिल भट्ट प्रतिभा/प्रातिभज्ञान और योगि-ज्ञान को प्रमाण नहीं मानते—

लौकिकी प्रतिभायद्वत् प्रत्यक्षाद्यनपेक्षिणी
न निश्चयाय पर्याप्ता, तथा स्याद् योगिनामपि । ।।[23]

मीमांसक योगि-ज्ञान को 'भावनाबलज' (भावना के बल से उत्पन्न)[24] और 'लिङ्गाद्याभासज' (जिस लिङ्गज्ञान से अनुमान घटित होता है उसके आभास मात्र से जन्य)[25] मानते हैं और इसी कारण उसे प्रमाण-कोटी में रखने के पक्ष में नहीं हैं । साधु शान्तिनाथ चालीस वर्ष की योग-साधना के बाद इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि योगी को तत्त्व-दर्शन नहीं भावना-दर्शन मात्र होता है । और उपरिनिर्दिष्ट प्रक्षेपण प्रायः भावना-बल से ही घटित होता है । अस्तु, प्रस्तुत लेखक इस विषय में कोई प्रामाणिक तथ्य प्रस्तुत करने की स्थिति में नहीं है ।

अच्छा, **गीता** में चित्र का एक दूसरा रुख भी देखने को मिलता है जिससे धर्मों की एकाराध्यता-सिद्धान्त को बल मिलता है । उस का एक श्लोक है—

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयाऽन्विताः
तेऽपिमामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् । [26]

20. **गीता** 7.20–21; 9.25; 17.3–4
21. Geoffrey Ashe, The Ancient Wisdom (London : Macmillan 1977), पृ. 195
22. तत्रैव, पृ, 196
23. कुमारिल भट्ट, **मीमांसाश्लोकवार्तिक** 1,1.4 (प्रत्यक्षसूत्र), 32
24. पार्थसारथि मिश्र, **शास्त्रदीपिका (युक्तिस्नेहप्रपूरणी-पूता)**, पृ. 52
25. तत्रैव
26. **गीता** 9.23

अर्थात् अन्य देवताओं की आराधना करने वाले भी वस्तुतः एक ईश्वर की ही आराधना करते होते हैं। अन्तर बस इतना है कि अज्ञान के कारण उन की आराधना जैसी होनी चाहिए वैसी नहीं हो पाती। एक अन्य श्लोक है–

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्,
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥[27]

अर्थात् सभी मनुष्य ईश्वर की ओर ही उन्मुख हैं। जो जिस भाव से ईश्वर की ओर बढ़ते हैं ईश्वर उन्हें वैसे ही प्राप्त होता है।

इस स्तर पर एकाराध्यता की कल्पना साधार हो जाती है। किन्तु इस दिशा में आराधक की प्रवृत्ति अज्ञानपूर्वक होती है, अतः एकाराध्यतार्थक सर्वधर्मसमभाव का कोई व्यावहारिक मूल्य नहीं। सिद्धान्त-स्तर पर भी वह वैसा ही है जैसे यह कथन कि सब कुछ ब्रह्म ही है, अतः विद्याविनयसम्पन्न ज्ञानी, गाय, हाथी, श्वान आदि सब एक ही हैं।

धर्मों की एकता-समता का छठा अर्थ है एकसाध्यता, एकार्थता, एकप्रयोजनता। सभी धर्मों का प्रयोजन एक मानने में कोई कठिनाई नहीं है। धर्म मात्र का प्रादुर्भाव मानव के अभ्युदय और निःश्रेयस के लिए हुआ है, अतः उनमें एकसाध्यता/एकार्थता/एकप्रयोजनता स्पष्ट ही है। **महाभारत** में एक श्लोक का एक चरण है–

आश्रमाणांच सर्वेषां निष्ठायामैक्यमुच्यते। [28]

इस का दूसरा चरण यहाँ प्रासङ्गिक नहीं है। हम उसके स्थान पर यूँ लिख सकते हैं–

धर्माणां चापि सर्वेषां निष्ठायामैक्यमुच्यते।

अर्थात् सभी धर्मों की निष्ठा एक है, अतः इस दृष्टि से सभी धर्म एक हो जाते हैं। **सूतसंहिता** उन 'धर्मों' को भी धर्म संज्ञा से विभूषित करती है, अर्थात् प्रामाणिक धर्म के रूप में स्वीकार करती है, जो भेद से निरपेक्ष होकर किन्हीं आचार्यों द्वारा स्वमनीषा द्वारा प्रकल्पित और प्रवर्तित किये गये हैं–

स्वमनीषिकयोत्पन्नो निर्मूलो धर्मसञ्ज्ञितः
श्रद्धया सहितो यस्तु सोऽपि धर्म उदाहृतः ॥[29]

बल्कि वह और आगे बढ़कर यहाँ तक कह जाती है कि श्रद्धापूर्वक जो कुछ किया जाय वह अत्यन्त श्रेयस्कर होता है–

श्रद्धया सहितं सर्वं भूयसे भवेत्। [30]

कुछ ऐसी ही बात इक्बाल के अधोऽङ्कित शेर में उपनिबद्ध प्रतीत होती है–

अगर है इश्क़ तो है कुफ्र भी मुसल्मानी
न हो तो मर्दे मुसल्माँ भी काफ़िरो ज़िन्दीक़।

27. तत्रैव 4.11
28. **महाभारत** शान्ति. 270.36
29. **सूतसंहिता** 4.20.13
30. तत्रैव 4.3.23

अर्थात् यदि श्रद्धा हो तो कुफ़्र (अर्थात् अधर्म) भी इस्लाम (धर्म) बन जाता है, अन्यथा मुसल्मान भी काफ़िर और नास्तिक-तुल्य है । मिर्ज़ा ग़ालिब के अधोलिखित शेरों में यह बात अधिक विस्तार से गुम्फित हुई है–

वफ़ादारी बशर्ते उस्तवारी अस्ले ईमाँ है
मरे बुतख़ाने में तो काबे में गाड़ो बरहमन को
नहीं कुछ सुब्हः ज़ुन्नार के फन्दे में गीराई
वफ़ादारी में शैख़ो बरहमन की आज़माइश है

अर्थात् "धर्म का मर्म सुदृढ़ और स्थायी श्रद्धा है । यदि ब्राह्मण भी अपने धर्म में दृढ़ आस्थावान् मरे तो उसे काबे में गाड़ना चाहिए (यद्यपि काबा केवल मुसल्मानों के लिए समझा जाता है) । इसी प्रकार माला और यज्ञोपवीत में धर्म को बाँधने की शक्ति नहीं । शैख़ (मुस्लिम धर्माचार्य) और ब्राह्मण की परीक्षा उन की आस्था में है ।" इस विषय में शिब्ली नुअ्मानी ने एक फ़ारसी शेर में क़लम तोड़ दी है–

दो-दिल बूदन दरीं रही सख़्ततर ऐब अस्त सालिक रा,
ख़जिल अज़ कुफ़्रे ख़ुद बूदम कि दारद बूए ईमाँ हम ।

अर्थात् "इस मार्ग में द्वन्द्व की स्थिति पथिक/साधक के लिए भारी दोषावह है । मैं अपने कुफ़्र से लज्जित हूँ कि उस से ईमान (इस्लाम) की गन्ध आती है ।" तात्पर्य यह है कि जिसे अधर्म समझा जाता है यदि उस में भी दृढ़ आस्था हो तो गन्तव्य प्राप्त हो सकता है, किन्तु द्वन्द्व की स्थिति भयानक है । इन वचनों में गहरा तत्त्व निहित प्रतीत होता है । आस्था यदि सच्ची है तो वह उन्मार्गगामी होने से बचाती है । वस्तुतः सच्ची आस्था, सुदृढ़ और स्थायी आस्था, सत्य में ही हो सकती है, असत्य असत्य के रूप में प्रकट होने पर अनास्था को जन्म देता है । इस विषय में यह वेदमन्त्र कितना मार्मिक है–

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः ।
अश्रद्धामनृतेऽदधच्छ्रद्धा ॐ सत्ये प्रजापतिः ।।[31]

अर्थात् प्रजापति ने सत्य और अनृत का विभाग कर के अनृत में अश्रद्धा और सत्य में श्रद्धा का आधान किया है । यही कारण है मानव-बुद्धि स्वभावतः सत्यपक्षपाती मानी जाती है ।

हाँ, यदि धर्मों के विशिष्ट, घोषित साध्यों का अन्वेषण किया जाय तो उनकी एकसाध्यता हवा हो जाती है । इस्लाम का साध्य स्वर्ग है; बौद्ध-सामान्य का निर्वाण; महायान का सर्वप्राणी-परिनिर्वाण; हिन्दू धर्म का स्वर्ग-अपवर्ग आदि-आदि । हिन्दू धर्म में ही **गीता** ब्रह्मनिर्वाण को परमार्थ बतलाती है और उपनिषदों के 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (ब्रह्म को जान कर ब्रह्म ही बन जाता है) की ओर इङ्गित करती प्रतीत होती है, जबकि वैष्णव सम्प्रदाय भगवद्भक्ति को मोक्ष से भी उच्चतर मानते हुए गोलक आदि में नित्य निवास की चर्चा करते हैं । ये धर्मों की साध्यता के सामान्यस्तरीय रूप हैं और उस स्तर पर एकसाध्यता के मार्गमें बाधक हो जाते हैं ।

31. यजुर्वेद 19.77

अब रही धर्मों की एकसाधनता की धारणा । इसका कोई पोषक नहीं है । धर्मों के साधन-पक्ष में इतना वैचित्र्य और वैविध्य है कि उसका नकार सम्भव ही नहीं । अतः इस पर विचार व्यर्थ है । मौलिक बौद्ध धर्म में आर्यसत्य-चतुष्टय और अष्टाङ्गिक मार्ग, वेदान्त में आत्मज्ञान, वैष्णव धर्म में भक्ति, इस्लाम में पैग़म्बर और अन्ध विश्वास, नमाज़, रोज़ा, हज्ज, ज़कात, और जेहाद आदि साधनों का वैविध्य अपनी कथा स्वयं कहता है ।

सब धर्मों की एकता/समता का अन्तिम अर्थ है परिप्रेक्ष्य-भेद, और अधिकारभेद-पूर्वक तात्त्विक एकता । रूमी का वाक्य है–

अज़ नज़रगाह अस्त ऐ मग्ज़े. वुजूद,
इख़्तलाफ़े. मोमिनो, गब्रो, जहूद ।

अर्थात् ' धर्मों की परस्पर विरुद्धता/भिन्नता का कारण परिप्रेक्ष्य की भिन्नता है ।" **गीता** में अधिकारभेद की स्थापना उसके उपर्युद्धृत श्लोकों में प्राप्त होती है । यह सही है कि परिप्रेक्ष्य-भेद और अधिकार-भेद की धर्म-भेद में महत्त्वपूर्ण भूमिका और कारणता है, तथापि उनसे धर्म-भेद की पूरी व्याख्या नहीं हो पाती । आराध्य के स्वरूप के विषय में परिप्रेक्ष्य का भेद मतभेद उत्पन्न कर सकता और करता है, आराधना की पद्धति के विषय में अधिकार-भेद से भारी भेद आ सकता है, किन्तु धर्म के प्रत्येक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त को इन्हीं आधारों पर व्याख्यायित करने का प्रयत्न सफल नहीं हो सकता । एक ओर जेहाद, बलात् धर्मान्तरण, शूद्र के साथ पशुवत् व्यवहार आदि और दूसरी ओर सहिष्णुता, सर्वधर्म-समभाव, मानवता-वाद, आदि—कितनी चौड़ी खाई हैं ? इसे परिप्रेक्ष्य-भेद और अधिकार-भेद से पाटना असम्भव है ।

अब एक छोटा-सा और प्रसङ्ग शेष है । 'सभी धर्म समान, समान रूप से सच्चे, एक हैं,' इस वाक्य में 'धर्म' शब्द से क्या तात्पर्य है ? क्या धर्म का यहाँ कोई विशिष्ट अर्थ है अथवा जिसे भी धर्म कह दिया जाय वही विवक्षित है ? अनेक 'धर्म'-पद-भाक् परम्पराएँ प्रच्छन्न अधर्म सिद्ध होती हैं । 'पाखण्ड-विवाद' तुलसीदास के लिए भी शिरःशूल बना हुआ था । क्या वे सभी पाखण्ड, अथवा पाषण्ड, सच्चे माने जा सकते थे ? प्रायः सभी धर्मों में ऐसी व्यवस्थाएँ मिल जायेंगी जो अन्य धर्मों के प्रति अनादर, घृणा, अथवा विद्वेष से प्रेरित प्रतीत होंगी । क्या वे भी सच्ची हैं ? **महाभारत** का वचन है–

धर्मं यो बाधते धर्मो न स धर्मः कुवर्त्म तत् ।
अविरोधात् तु यो धर्मः सः धर्मः सत्यविक्रम ! ।।[32]

अर्थात् "जो धर्म अन्य धर्म में बाधा उत्पन्न करता है वह कुवर्त्म है, असन्मार्ग है, कुधर्म है ।" क्या ऐसे 'धर्म' को सच्चा कहना चाहिए ? तब तो जयन्त भट्ट की पूर्वोद्धृत उक्ति चरितार्थ हो आयेगी कि तब जो भी मन चला दिया जाये वह कालान्तर में सच्चा मान लिया जायेगा ।

32. **महाभारत**, वन-पर्व 130.11, गीता प्रेस से प्रकाशित ग्रन्थ में 'कुवर्त्म नहीं 'कुधर्म' पद आता है । हम ने 'कुधर्म' को अपाणिनीय समझ कर 'कुवर्त्म' कर दिया है, यद्यपि इसका अधिकार हमें है नहीं ।

इस ऊहापोह से स्पष्ट हो जाना चाहिए कि धर्मों की एकता/समता/समान रूप से सत्यता का प्रचलित प्रवाद प्रवाद मात्र है। सभी धर्म सामान्यविशेषात्मक हैं। वे सामान्यांश में अन्य धर्मों के साथ बहुत कुछ एक अथवा समान हो जाते हैं, किन्तु विशेषांश में उतने ही भिन्न अथवा परस्पर शत्रुभावापन्न, और प्रायः उनके विशेषांश ही उनके अवदान हैं, भले अथवा बुरे। धर्मों का सामान्यांश प्रायः नैतिक विषय हैं जो सभी धर्मों में बहुत कुछ समान पाये जाते हैं। सभी धर्म कहते हैं—सत्य बोलो, सदाचार से रहो, अत्याचार से बचो, आदि-आदि। किन्तु यत्र-तत्र और यदा-कदा ये विशेषांश बन जाते हैं। यदि कोई धर्म प्रेम और सौहार्द का आदर्श केवल अनुयायियों तक सीमित करदे तो उक्त सामान्य नियम भी विशेष नियम बन जायेंगे। कहना नहीं होगा कि अनेक धर्म विश्वभ्रातृत्व की प्रतिष्ठा करते हैं, जबकि कम से कम एक धर्म ऐसा है जो विश्वभ्रातृत्व जानता ही नहीं, केवल सधर्म-भ्रातृत्व जानता है, भ्रातृभाव को अपने अनुयायियों तक सीमित कर देता है। वर्तमान युग विजितों को दास-दासी बनाने का स्वप्न भी नहीं देखता, जबकि एकाध धर्म उस की खुली छूट देते हैं। इस प्रकार वे समान नैतिक नियमों का गला घोंट देते हैं।

वस्तुतः सर्वत्र समता और विषमता के अनेक स्तर होते हैं। इन्हें ध्यान में रख कर धर्मों की पारस्परिक समता और विषमता का निर्णय करना चाहिए। यह कहना निरर्थक और भ्रामक है कि सब धर्म एक हैं, सच्चे हैं, समान रूप से सच्चे हैं; बताना यह चाहिए कि अमुक धर्म से अमुक धर्म अमुक सीमा तक मेल खाता है और अमुक सीमा तक नहीं। इसके अतिरिक्त, धर्मों का वैविध्य सदा सत्यासत्य-परक नहीं होता, वह जूही, चमेली, गुलाब, कमल आदि के समान निर्दोष होता है। उर्दू के प्रसिद्ध कवि ज़ौक़ का शेर है—

गुलहाए रंगारंग से है रोनके. चमन,
ऐ ज़ौक़ ! इस जहाँ को है रंग इख़्तिलाफ़ से।

इस प्रकार का वैविध्य विविधों का दूषण नहीं, भूषण है।

इन सब तथ्यों के सन्दर्भ में देखा जाय तो सब धर्मों की एकता/समता/समान रूप से सत्यता का प्रवाद धर्मों की प्रकृति से अनभिज्ञता-जनित सिद्ध होगा। प्रत्येक धर्म का अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व होता है जो उसे अन्य धर्मों से भिन्न करता और उसे अपनी पहचान देता है। उसकी पकड़ होनी चाहिए।

42/59 रामरत्न वाजपेयी मार्ग
नरही, लखनऊ–226001

उन्मीलन : वर्ष ४, अंक १
जनवरी, १९८८

5

स्वधर्म और कालगति : लेखक का दृष्टिकोण

रमेशचन्द्र शाह

मनुष्य के मतलब की सबसे गहरी चीज़ क्या है ? पुराने ज़माने के लोग पुरुषार्थों की शब्दावली में सोचते थे और उसी सिलसिले में सर्वोच्च पुरुषार्थ की कल्पना करने के साथ-साथ उस सर्वोच्च पुरुषार्थ की साधना का मार्ग भी उन्होंने खोजा और बताया था। मार्ग भी एक नहीं अनेक थे, और सभी जायज़ थे, सभी सही थे, क्योंकि पुरुष-भेद का मानसिक गुण और स्तर-भेद का यथार्थ भी उनके लिए उतना ही प्रत्यक्ष और प्रकट था जितने कि स्वयं वे पुरुषार्थ। क्या हम आज उतने ही आत्म-विश्वास और अन्तःप्रामाणिकता के साथ अपने वर्तमान संकट के साक्षात्कार तथा समाधान के लिए उस शब्दावली का प्रयोग कर सकते हैं ? या कि उससे कहीं बेहतर और विश्वसनीय शब्दावली इस बीच हमने कमा ली है जो हमारे आज के जीवनानुभव से उपजी है और जो हमारे मानव-विश्व की आज की परिस्थिति से परिभाषित होते हुए उस परिस्थिति का पर्याप्त समाधान भी गढ़ने में हमारी सहायता कर सकती है ?

मनुष्य का जीवनानुभव और उस अनुभव से प्रेरित विचार ही जीवन के अर्थ की उसकी संकल्पना और दर्शन को निर्धारित करता है। यह भी कि यह जीवनानुभव और उसका अनुचिन्तन स्वयं उस स्वकर्म या स्वधर्म से परिभाषित और प्रभावित होता है जिसका निर्वाह करते हुए मनुष्य अपना जीवन जीता है और जिए हुए का मनन करता है। "स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानव."···· । कैसी सिद्धि ? स्वकर्म द्वारा सिद्धि का ऐसा आश्वासन तो तभी संभव है जब स्वकर्म ही साधना हो, और साध्य के बारे में भी व्यापक सहमति हो। हेगेलीय मुहावरे के मुताबिक तो यह युग "चेतना की लोकोन्मुखता" (सेकुलराइज़ेशन ऑव स्पिरिट) का युग है। लोकायतिक (सैकुलर) और मानववादी युग के मनुष्य का "स्वकर्म" क्या "साधना" सरीखे अलौकिक अर्थभार वाले शब्द को वहन कर सकता है ? मानव-सभ्यताओं

ग्रौर संस्कृतियों की भरपूर टकराहट और घालमेल के युग में क्या ऐसी ग्राश्वस्तता संभव है ? स्वयं एक ही संस्कृति की समाज-रचना के भीतर स्वकर्म या स्वधर्म पहले की तरह सुनिश्चित ग्रौर सुपरिभाषित नहीं रह गए हैं । प्रजातंत्र में अधिकार-भेद-सम्बन्धी विवेक ग्रौर मर्यादाग्रों का शिथिल पड़ जाना, रूपान्तरित हो जाना, वैसे भी लाज़िम है । लिहाजा "स्वधर्म" और "परधर्म" की भी पुन:परिभाषा ग्रौर पुनर्मूल्यांकन ग्रनिवार्य है, क्योंकि न तो परधर्म की भयावहता उस तरह स्वयंसिद्ध लगती है, न स्वधर्म की सुरक्षा ग्रौर सार्थकता ही । दूसरी ग्रोर यह भी ग्रकारण नहीं हो सकता कि आज हम विभिन्न मानव-संस्कृतियों के पृथक् वैशिष्ट्य पर ज़ोर देने के साथ-साथ उनके ग्रन्तरावलम्बन की भी बात उठाते हैं । ठीक उसी तरह, जिस तरह हम वस्तु-ज्ञान के अभूतपूर्व विस्फोट के इस युग में जहाँ एक ओर विभिन्न अनुशासनों की ग्रपनी-ग्रपनी विशिष्ट मर्यादाग्रों की रक्षा-संवर्धना के प्रति अत्यधिक सजग हैं वहीं मानों इसकी क्षतिपूर्ति-स्वरूप हम ग्रन्तर-अनुशासनिक पद्धति को अपनाने के लिए भी उतने ही उदग्र-समुत्सुक दिखाई देते हैं । प्रस्तुत प्रसंग में भी लगता है, लौकिक प्रतिज्ञाग्रों के भीतर ही मानव-जीवन के गहनतम ग्रभिप्रायों का संधान करना यदि हमारे संवाद का तात्कालिक और स्वयं-पर्याप्त लक्ष्य है तो पृष्ठभूमि में कहीं सब को साधने वाली विद्या की एकता ग्रौर ग्रखण्डता का विचार भी ग्रनुपस्थित नहीं हो सकता । क्या एक लेखक (रचनाकर्मी लेखक) उस लक्ष्य का संधान कर सकता है ? जिसका कर्म एक प्रकार से स्वयं मायिक का कर्म है, क्या वह उस कर्म की बदौलत ही माया का पारदर्शन पा सकता है ? कवि भले ही ग्रपनी आत्मनिष्ठ कविता में हमें यह विश्वास दिलाने की कोशिश करता रहे कि...."उस माया की छाया में, कुछ सच्चा स्वयं बना था", वस्तुनिष्ठ वैज्ञानिक और ग्रफलातून के वंशधर क्या उसके दावे को यों ही ग्रासानी से मान लेंगे ?

जीवनानुभव ग्रौर उसका चिंतन-मनन, ग्रपने स्वकर्म की संगति में स्वकर्म के माध्यम से ही उस जीवनानुभव ग्रौर चिंतन का उत्तरोत्तर एक जीवन-दर्शन ग्रौर मूल्य-दर्शन में ढलना....क्या यह लेखन-कर्म की स्वाभाविक विकास-प्रक्रिया नहीं हो सकती ? किसी उपनिषद् में पढ़ा था कि "जो सब होकर सबको देखता है, वही देखता है; जो सब होकर सबको नहीं देख सकता वह कुछ नहीं देखता" । बड़ी कठिन शर्त है; मगर क्या लेखक का देखना एक मानी में ऐसा ही देखना नहीं होता ? वरना वह क्यों इतने ग्रलग-अलग चरित्रों की सृष्टि करके उनके घट में बैठकर बोलना ग्रौर बुलवाना चाहता है ? क्या अपने पात्रों के रूप में, एक के बाद दूसरी रचना के रूप में उसका खुद का देहान्तरण, चित्तान्तरण, अहं-रूपान्तरण ही नहीं होता ? वह क्यों विवश है यह निरन्तर आत्मान्तरण, ग्रात्मदान करने को, यदि उसकी ग्रपनी जीवनी काफ़ी है तो ? कुछ भी रचने के लिए ममेतर क्यों ज़रूरी है, मुखौटा क्यों ज़रूरी है ? अपनी ही व्यक्तिगत परिस्थितियों से काफ़ी दूरी ग्रर्जित करना क्यों ज़रूरी है ? कीट्स ने तो यहाँ तक लिखा है कि कवि का ग्रपना कोई व्यक्तित्व नहीं होता । वह तो जो देखता है वही बन जाता है । तो क्या यह आत्मविस्मरण की परकायप्रवेश सरीखी प्रतिभा या प्रवृत्ति ही लेखक का स्वकर्म और स्वधर्म है ? क्या यही उसकी वह सामर्थ्य है जिसे कीट्स ने 'नेगेटिव कैपेबिलिटी' कहा था ? अपने व्यक्तित्व को भूल सकने की ही नहीं, अपनी अवधारणाशील बुद्धि को प्रलुब्ध करने वाले मतवादों ग्रौर

फ़ल्सफ़ों को भी नकारने अथवा स्थगित करने की सामर्थ्य ? तब फिर जीवन-दर्शन और मूल्य-दर्शन की मांग का क्या होगा ? रचने वाली मनीषा और भोगने वाले प्राणी के बीच दूरी स्थापित किये बिना सार्थक रचना नहीं हो सकती, यह तो रोमैण्टिक कवि भी जानता था और आधुनिक कवि भी अपने ढंग से उसी बात को दुहरा भर रहा है। किन्तु स्वयं उस रचना का मूल्य मानव-समाज के लिए क्या है और क्यों है ? सदा-सदा से लोग अपने लेखकों से सत्य की और आदर्श की 'संजीवनी-सुधा' और 'प्रज्ञा' की अपक्षा करते रहे हैं तो अपेक्षापूर्ति के आधार पर ही तो करते रहे होंगे ? क्या आधुनिक युग में लेखक से हमारी अपेक्षाओं का धरातल बदल गया है ?

"मनुष्य सत्य को नहीं जान सकता किंतु उसे जीवन में अवतरित अवश्य कर सकता है" (मैंन कैन नॉट नो ट्रुथ, बट ही कैन एम्बॉडी ट्रुथ)—आधुनिक कवि यीट्स ने लिखा था, अपनी मृत्यु से एकाध दिन पहले ही। जैसे उसके कुल जीवनानुभव और कवि-कर्म का निचोड़ इस वाक्य में आ गया हो। प्रकारान्तर से क्या यह 'सब होकर सबको देखने' वाले दर्शन से ही जुड़ी हुई बात नहीं लगती ? रचना भी ज्ञान का ही एक प्रकार है; पर रचना का 'जानना' ज्ञान के अन्य अनुशासनों के 'जानने' की प्रक्रिया से मूलतः भिन्न है। इसलिए कि वह स्वयं जीकर के, स्वयं होकर के जानना है। 'जानना' यहां 'होने' पर अवलम्बित है। रचना का सच अस्तित्वात्मक और रागदीप्त सच है। किन्तु क्या इसीलिए वह सत्य के दूसरे किस्म के खोजियों और दावेदारों को उनकी तथाकथित वस्तुपरक कसौटी के चलते संदिग्ध नहीं लगता होगा ? आयोनेस्को से पूछा गया कि तुम क्यों लिखते हो ? उसने उत्तर का प्रारम्भ ही इस वाक्य से किया कि "मैं क्यों लिखता हूं—यदि मैं सचमुच यह जानता होता तो मुझे लिखने की कोई प्रेरणा ही नहीं होती, यही जानने के लिए तो मैं लिखता हूं कि मैं क्यों लिखता हूं ?" ज़ाहिर है कि इस तरह का लगातार जानना भी लेखक होने से छुटकारा नहीं दिलाता। यदि लेखन-कर्म को व्यापक जीवन और सृष्टि के प्रति एक तरह के ऋणशोध या आत्मदान की प्रक्रिया के रूप में देखें तो भी इससे यह कहाँ निकलता है कि इस जीवनव्यापी प्रक्रिया की परिणति आत्म-ज्ञान और आत्मोपलब्धि में होगी ही। हो भी तो वह आत्मज्ञान और आत्मोपलब्धि : सब होकर सबको जानने का अनुभवः सचमुच 'ज्ञान' ही है और दूसरे वस्तुपरक ज्ञान की तरह ही उपयोगी और समर्थ ज्ञान है, इसका भरोसा दूसरों को कैसे हो ? मानव को मूल्य-स्रष्टा माननेवाला कवि जब कहता है...."मैं लिखता हूं, मैं लिख-लिख कर सब झूठा करता जाता हूं"....तो उसकी आस्था के आधार को वस्तुपरक सच्चाई के दावेदार वस्तुपरक और सच कैसे मान लेंगे ?

किन्तु क्या यह वस्तुतः नेतिमूलक दृष्टि ही ज्ञान-संवेदन के खुलेपन का, उसकी अनन्त संभावनाओं का आश्वासन देती प्रतीत नहीं होती ? क्या यह सत्य को न जान सकने की आत्म-स्वीकृति "होने" के सत्य को चरितार्थ करते चलने की सर्जनात्मक कृति के साथ ही अनिवार्यतः जुड़ी हुई नहीं है ?

× × ×

बुद्धिजीवियों की बिरादरी में एक रचनाकर्मी लेखक की स्थिति इसलिए भी कुछ विचित्र हो जाती है कि एक ओर जहाँ वह बड़ी उत्कटता से यह महसूस करता है कि उसका

कर्म मनुष्य की ऐन्द्रिक, प्राणिक, भाविक, बौद्धिक सभी सत्ताओं की समवेत सक्रियता से उपजने के कारण मनुष्य के क्रिया-कलापों के बीच केन्द्रीय महत्त्व का स्थान रखता है वहीं दूसरी ओर वह यह भी पाता है कि आधुनिक जगत् में उसे इस स्थान से, मानो बलात्, विस्थापित कर दिया गया है। मानो वह अब जीवन के केन्द्र में नहीं, परिधि पर है।

ऐसी स्थिति में क्या उसकी विस्थापित संवेदना का साक्ष्य ज़ाहिरा तौर पर वैज्ञानिक, दार्शनिक और राजनीतिकर्मी के साक्ष्य जितना मूल्य और असर रख सकता है? क्या उसमें उतना ही और उसी प्रकार का आत्मविश्वास है? अगर हाँ, तो उसके इस आत्मविश्वास का स्रोत क्या है और कहाँ है? बीसवीं सदी तक आते-आते शायद कुछ लोगों को ऐसा प्रतीत होने लगा कि एक विशुद्ध कवि और कथाकार की तुलना में एक आलोचक-विचारक कहीं ज्यादा अपने को घटनाओं और वैचारिक उथल-पुथलों के केन्द्र में महसूस करता है। अन्यथा आन्द्रे ज़ीद जैसे लेखक को ऐसा क्यों कहना पड़ा कि "मौलिकता और सृजनात्मकता तो आलोचक-विचारक में ही होती है, तथाकथित सृजनशील लेखक तो जीवन का ही अनुकरण करता है।"

जीवन का अनुकरण! अजीब विडम्बना है कि प्लेटो का सन्देह और आरोप अढ़ाई हज़ार साल बाद इस तरह साहित्यकार के सिर पर चढ़ के बोल रहा है। अनजाने ही; क्योंकि ज़ीद जब यह लिख रहे थे तो वे शायद अपनी समझ से सिर्फ आधुनिक साहित्य में आगए अनिवार्य विचलन को—उसकी अपेक्षाकृत अधिक बौद्धिक, अधिक जटिल संरचना को ही रेखांकित कर रहे होंगे।

किन्तु स्वयं पश्चिम का लेखक अब यह अनुभव कर रहा है कि वह दौर भी बीत चुका है और आधुनिकोत्तर युग में न तो प्राक्-आधुनिक साहित्य के सरलतर ढाँचों की ओर लौटा जा सकता है, न उस तरह आधुनिकतावादी ("माडर्निस्ट") दौर के जटिल बौद्धिक विन्यास ही अब उसके ख़ास काम के रह गए हैं। उस क्रिया और प्रतिक्रिया के बाद अब एक नए संतुलन की तलाश की जा रही है और उसकी उपलब्धि के लक्षण भी जहाँ-तहाँ प्रकट हो रहे हैं। कथा-साहित्य में ही मसलन इटैलो, कॉल्विनो और गेब्रिएल मार्सेल का कथा-कृतित्व इस नए संतुलन की रचना का ठोस उदाहरण प्रस्तुत करता है। यदि आधुनिकों ने, एलियट और जेम्स ज्वाइस जैसे लोगों ने, यह दिखाया कि रैखिकता, तार्किकता, कार्यकारण सम्बन्ध और मध्यवर्गीय नैतिक रूढ़िवादिता ही मनुष्य का पूरा सच नहीं है तो आज बीसवीं सदी की ढलान पर खड़े होकर जो परिदृश्य हमें उपर्युक्त आधुनिकतावादोत्तर (पोस्ट-मॉडर्नेस्ट) लेखकों के कृतित्व की बदौलत दिखाई पड़ता है वह हमें बताता है कि प्राक्-आधुनिक लेखन की इन प्रवृत्तियों की प्रतिक्रिया में उनके विपरीत जो मूल्य व लक्षण आधुनिक साहित्य में उभरे—जैसे विशृंखलता, समकालिकता, अबुद्धिवाद, स्वयं माध्यम की संदेशवाहकता, राजनीतिक तटस्थता और नैतिक अनिश्चय—वे भी शायद मनुष्य का सपूर्ण चित्र उपस्थित नहीं करते। निश्चय ही उन प्रयोगों का अपना औचित्य, अपनी अनिवार्यता रही होगी; किन्तु अब उन्हें दुहराना सृजन-ऊर्जा का अपव्यय ही होगा। उन्हें पचा चुकने के फलस्वरूप ही नए साहित्य की पहुँच ज्यादा व्यापक होगी। राजनीति और विज्ञान के प्रति भी उसकी दृष्टि ज्यादा समावेशी एवं यथार्थपरक होगी। काल्विनो का 'कौस्मिकामिक्स' ही लें। उसकी

सामग्री जहाँ एक ओर नए सृष्टिविज्ञान जितनी ही आधुनिक लगती है वहीं वह हमें परी-कथाओं की तरह प्राचीन भी प्रतीत होती है। विषय भी वही जाने-पहचाने, तुरन्त पकड़ में आने वाले हैं—प्रेम और वंचना, परिवर्तन और सातत्य, भ्रम और यथार्थ...; और इन विषयों के चित्रण में लेखक अपने देश के यथार्थ ब्योरों का भी ख़ासा समावेश किये लेता है। यानि कालविनो का एक पाँव शुद्ध कल्पना [फैण्टेसी] में है तो दूसरा वस्तु-जगत् के यथार्थ में। समझ में आने लगता है कि क्यों कालविनो के कृतित्व को दोनों खेमों से कड़ी भर्त्सना मिली—इतालवी कम्यूनिस्ट आलोचकों की ओर से भी और इतालवी कैथॉलिकों की ओर से भी।

कहने का आशय यह कि ये आधुनिकोत्तर कथाकार अपने स्वभाव और पहुँच में अपने पूर्ववर्तियों की अपेक्षा कहीं अधिक प्रजातांत्रिक हैं। उन्हें दुरूह और दीक्षागम्य होने की ज़रूरत नहीं है। संप्रेषणीयता उनके लिए बहुत बड़ा मूल्य है। अपने पाठक को वे ऐसा मानसिक आहार सुलभ करा रहे हैं जो सुस्वादु भी है और पौष्टिक भी। यहाँ पर यह याद कर लेना जरूरी होगा कि हमारे साहित्य में, स्वयं आधुनिक संवेदन के संवाहकों को भी, प्रयोग की वेदी पर संप्रेष्यता की बलि देने की ज़रूरत नहीं पड़ी। इसके बावजूद जो अनुकरणात्मक अतिचार हमारे यहाँ भी सामने आया उसके प्रतिकारस्वरूप फिर से संप्रेष्यता के मूल्य पर सबसे अधिक बल भी उन्हीं की ओर से दिया गया जिन्होंने रचनात्मक स्तर पर आधुनिक संवेदन को आत्मसात् करने के साथ-साथ परम्परा के पुनःपरीक्षण और पुनर्नवीकरण का भी सचेत उद्यम किया था।

सभ्यता के इतिहास में ऐसे मौके बार-बार आते रहे हैं जब कुछ लेखकों को लगता रहा है कि वे तो प्रलयकाल के लेखक हैं, जिस काल में भाषा की सारी संभावनाएं समाप्तप्राय हो जाती हैं। काश, कि वे उस काल के लेखकों की तरह भाग्यशाली रहे होते जब भाषा में ताज़गी थी, विषय-वस्तु में भी नयापन था। अब तो जैसे सब कुछ बासी पड़ गया है, नया कुछ करने को रहा ही नहीं। कुछ ऐसी ही मनःस्थिति दो हज़ार साल पहले पैदा हुए ल्यूकेशियस की भी थी जो बड़ी उत्कटता के साथ यह महसूस करता था कि संसार का अन्त बस अब हुआ ही चाहता है। प्रमुख आधुनिकों का कृतित्व देखा जाय तो प्रलय की कगार पर खड़े मनुष्य की कुछ बचा लेने की चिंता से ही प्रेरित है, हज़रत नूह की तरह। क्या यह आशाप्रद नहीं कि आज बीसवीं सदी की ढलान पर, जबकि भय और आतंक के अवसर पहले की तुलना में कम नहीं हुए, बढ़े ही हैं, आधुनिकोत्तर साहित्य का स्वर बदल गया है? उसमें मनुष्य की संभावनाओं के प्रति उन्मुख एक ऐसी कल्पनात्मक ऊर्जा दीख पड़ती है जो प्रत्यासन्न त्रास के साथ भी खिलवाड़ कर सकती है, उसे चुनौती दे सकती है? इसलिए उसमें उस तरह पुराने ढंग की सहज आस्था का टिकाव न सही, जोखम से निखरी हुई जिजीविषा की चमक अवश्य है। आधुनिकोत्तर साहित्य का यह स्वर मोह और मोहभंग दोनों स्थितियों का अतिक्रमण कर सकने वाला स्वर है।

पश्चिमी साहित्य में दिखाई देने वाले इस प्राक्-आधुनिक, आधुनिक और आधुनिकोत्तर के सिलसिले का उल्लेख, मुझे लगता है, हमारे लिए एकदम अप्रासंगिक नहीं है। समूचे विश्व के संदर्भ में अपनी नियति देखने की स्वाभाविक प्रवृत्ति हमारे जिन अग्रगामी साहित्यकारों में

आरम्भ से ही झलकती जान पड़ती है उनमें, जैसाकि मैंने पहले भी संकेत किया, अनातंकित आधुनिकता का स्वर अपने भीतरी तर्क से ही उत्तरोत्तर एक गहरी आत्म-प्रत्यभिज्ञा की ओर अग्रसर होता गया है। कवि-चिंतक विजयदेवनारायण साही की एक कविता मुझे यहां पर बरबस ही याद आ रही है : 'इसी शताब्दी के सामने'। इसमें कवि कहता है : "इसी शताब्दी ने हमें और तुम्हें गम्भीर शब्दों वाली वाणी दी है। देखूँ पहले कौन चीखता है।" "तुमने मेरे बाहर निकलने के सभी रास्तों पर अपने मोहरे बिछा दिये हैं किन्तु मैं बिसात से उतर कर सीधे तुम्हारे मर्म में प्रवेश करता हूं, देखूँ मुझे कौन रोकता है ?" साही जी का उदाहरण मैं इसलिए दे रहा हूं कि जहाँ वे पश्चिमी साहित्य से काफी गहरे में संवेदित रचनाकार थे, वहीं कहीं बड़े गहरे में उनकी कविता और काव्यालोचना इस आत्मविश्वास को भी प्रतिध्वनित करती जान पड़ती है कि स्वयं भारत की संस्कृति और विश्व-दृष्टि में ऐसा कुछ है कि यह समूचे चराचर विश्व का सन्दर्भ ही बराबर अपनी आखों के सामने रखती आयी है। यह विश्व से अलग अपनी नियति को नहीं देखती, न उस पर हावी हो जाने की महत्त्वाकांक्षा ही कभी उसमें रही है। इसलिए इस विश्व-दृष्टि में सचमुच सबके लिए रास्ता निकल आने की गुंजाइश है।

अज्ञेय, साही जी, निर्मल वर्मा आदि जितने भी अग्रगामी संवेदना के धनी लेखक हिन्दी में हुए हैं या हैं, सभी सृजनात्मक कर्म के साथ-साथ चिन्तन-कर्म में भी संलग्न रहे हैं। अपने ज़माने की विचार-सम्पदा के प्रति संवेदनशील होना तो लेखक के लिए हमेशा ही गुण माना जाता रहा है। किन्तु आज के ज़माने में, लगता है लेखक को कुछ अतिरिक्त ही सजगता और दायित्व इस मामले में निभाना पड़ता है। मैं कभी-कभी खुद से पूछता हूँ कि इस अतिरिक्त दायित्व को ओढ़े बिना सर्जक-स्वभाव का काम क्यों नहीं चल सकता ? क्यों मेरी बुद्धि-ऊर्जा पूरी तरह से मेरे कवित्व या कथाकारत्व द्वारा नहीं खपा ली जाती ? वैसे भी आधुनिक जगत् और आधुनिक विचारधाराओं के साथ आधुनिक लेखक का सन्बन्ध काफी कुछ तिरछा और असामंजस्यकारी तो है ही। निस्सन्देह आज हमारे यहाँ भी, और स्वयं पश्चिम में भी, अनेक लेखक इस परिस्थिति से विक्षुब्ध दीखते हैं कि आधुनिक जगत् की चालक शक्ति कुछ ऐसी है जो समूचे विश्व को अपने नियन्त्रण में ले लेने पर आमादा है और वह नियन्त्रण अपने-आप में मूल्यनिरपेक्ष है। लगता है, समूचा विश्व एक ऐसी विचार-पद्धति, एक ऐसे फ़लसफे की तार्किक परिणति और स्वचालित सी प्रक्रिया के अधीन हुआ जा रहा है जो व्यवहारोपयोगी चिन्तन से मनन और ध्यान-परक चिन्तन को निरन्तर विस्थापित करती गई है, और इसने मनुष्य के भौतिक और मानसिक पर्यावरण को कुछ इर तरह गड़बड़ा दिया है कि स्वयं साहित्यकार के मन में अपने कर्म और अपनी भूमिका को लेकर गहरा संशय पैदा हो गया है। भारतीय लेखक भी इसके अपवाद नहीं हैं, क्योंकि भारतीय जीवन और भारतीय बुद्धिजीवी भी इस परिस्थिति की लपेट में कमोबेश आता जा रहा है।

चूंकि पश्चिम का आधुनिकोत्तर साहित्य किसी सीमा तक पश्चिमी विश्व-दृष्टि की इस अनिवार्य व्यवहारोपयोगी गतिविधियों और उनकी परिणतियों से विद्रोह करता हुआ अपनी स्वायत्तता और केन्द्रीय मूल्यवत्ता के लिए लगातार संघर्षरत रहा है अतः हम भारतीय साहित्यकार उस विश्व–दृष्टि की लपेट में आने से, उसमें खप जाने से इनकार करते हुए अपने रचनात्मक प्रयत्नों में पश्चिमी साहित्य के साथ स्वभावतः सहानुभूति और सह–सवेदन का रिश्ता

महसूस करते रहे हैं। किंतु उत्तरोत्तर यह स्पष्ट होता जा रहा है कि वह हमारी परिस्थिति से उद्भूत न होने के करण हमारी बहुत मदद नहीं कर सकता। हमें जो मदद चाहिए, जो प्रेरणा चाहिए, वह मनन-ध्यानमूलक विचार की बुद्धि-ऊर्जा के स्तर पर, अर्थात् दार्शनिक चिन्तन के स्तर पर चाहिए। हमें विश्व के अवधारणात्मक वशीकरण [कॉन्सेप्चुअल कंट्रोल] को बुद्धि का चरम पुरुषार्थ मानने वाले फ़ल्सफे के मुकाबले अपनी दार्शनिक बुद्धि को परंपरागत आधार पर ही नहीं, आधुनिक जीवनानुभूति के ठोस धरातल पर खड़ा करना पड़ेगा। यह महज़ परम्परा बनाम आधुनिकता का प्रश्न नहीं है: कृष्णचंद्र भट्टाचार्य ने जिस वैचारिक स्वराज्य की बात उठाई थी सन् 1929 में, वह नितान्त अपने जीवनानुभव की ज़मीन पर उस विश्व-दृष्टि से सचमुच गहरे स्तर पर टकराने और जूझने की समस्या है जो फ़िलहाल दिग्विजयी और एक मात्र विकल्प दिखाई देती है। किंतु क्या सचमुच उसका कोई विकास नहीं है?

साहित्य समग्र अस्तित्व की चिंता करता है। उसकी भाषा विश्व के तार्किक-अवधारणात्मक वशीकरण की नहीं होती। तर्क-बुद्धि वहाँ श्रद्धा-बुद्धि के साथ सहयोग करके चलती है। किन्तु जब वह श्रद्धा-बुद्धि स्वयं चारों ओर से आक्रान्त अनुभव कर रही हो—खुद ही बचाव की मुद्रा अपनाने लगी हो—तो वह अपनी कुशलता के बारे में तब तक आश्वस्त नहीं हो सकती जब तक दार्शनिक स्वयं उसकी लड़ाई अपने ढंग से अपने विशिष्ट अनुशासन के स्तर पर लड़ने को प्रस्तुत नहीं होता। काव्यकार दार्शनिक नहीं होता, वह तो उस तरह अनिवार्यतया विचारक भी नहीं होता। किन्तु अपने आस-पास तत्त्व-चिंतकों और दार्शनिकों की सक्रिय उपस्थिति का आश्वासन उसे अपने सृजन-कर्म के सुचारु निर्वाह की खातिर भी निस्सन्देह चाहिए। निश्चय ही तत्त्वचिंतक साहित्यकार की जगह नहीं ले सकते—लेना चाह भी नहीं सकते। मैंने पहले ही कहा कि साहित्य व्यापक जीवन की पवित्रता और मूल्यवत्ता की रक्षा करने वाले तात्त्विक दर्शन का सहज सहयोगी और सहयात्री है। ऐसा जान पड़ता है कि हमें अपने सारे संशयों का निर्भ्रान्ति सामना करते हुए एक आमूल चूल टकराहट के भीतर से ही उस आस्था का स्वरूप गढ़ना होगा जो वास्तव में जोखम से निखरी हुई आस्था होगी। हमारे दार्शनिकों को भी साहित्यकार के अन्त:साक्ष्य को गंभीरतापूर्वक ग्रहण करना होगा—उसका रचनात्मक उपयोग भी करना होगा। उन्हें दार्शनिक तर्क के स्तर पर प्रमाणित करना होगा कि भारत की विश्व-दृष्टि अधिक सत्य और अधिक कल्याणकारी है, अधिक पारमार्थिक और अधिक व्यावहारिक भी। उन्हें अपने आलोचकों को—हेगल को ही मसलन—मुँहतोड़ उत्तर देने की चुनौती स्वीकार करनी होगी। तभी हमारे बौद्धिक आचरण में भी वह आत्मविश्वास आएगा जिसका प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रभाव हम रचनाकर्मियों पर भी पड़ेगा। स्पष्ट ही यह एक दुतरफ़ा प्रक्रिया है, जिसमें सृजनात्मक साहित्य और मूलगामी दार्शनिक चिंतन दोनों ही बराबरी के साझेदार हैं। आज की परिस्थिति तो बल्कि साहित्य की तुलना में स्वयं दर्शन के लिए अधिक कुण्ठाकारी सिद्ध हो रही है। साहित्य तो अपना काम अपने स्तर पर कर ही रहा है, और जैसाकि मैंने संकेत किया स्वयं दार्शनिकों के लिए उसका साक्ष्य आज एक ऐसे अर्थ में और स्तर पर मूल्यवान् हो उठा है जैसाकि शायद पहले कभी नहीं रहा होगा। समस्या लेकिन एक साहित्यकार के ही शब्दों में यह है कि "मानव स्वयं दर्शन को उसकी दुरवस्था से किस तरह उबार सकता है कि दर्शन स्वयं मानव को उबार सके।" [अज्ञेय : अवन्ती] कहने की आव-

श्यकता नहीं कि हमारे समय के एक साहित्यकार की इस प्रतीति के पीछे न केवल पुरुषार्थों के बीच दर्शन की विलक्षण स्थिति का सम्यक् बोध और स्वीकार निहित है बल्कि उसकी वर्तमान संकटापन्नता की ऐसी अचूक पकड़ भी जो स्वयं उन पुरुषार्थों को ही सबसे गहरी और सबसे आत्यन्तिक चुनौती प्रस्तुत कर रही है।

**एफ 3/2, प्रोफेसर्स कोलोनी,
विद्याविहार, भोपाल-462002**

उन्मीलन : वर्ष ४, अंक १
जनवरी, १९८८

प्रस्तुति

सत् की जिज्ञासा एवं दार्शनिक प्रश्न

सत्* के विषय में चर्चा कभी नीरस अथवा महत्त्वहीन नहीं होती। अपरिमित विचार, विश्लेषण तथा अन्वीक्षा के बाद भी सत् के विषय में हम किसी निश्चयात्मक स्थिति में नहीं पहुँच पाये हैं। वर्तमान प्रयास में यह समझने की चेष्टा की जा रही है कि इस स्थिति के क्या कारण हो सकते हैं? क्या इन कारणों से सत् की जिज्ञासा के स्वरूप पर कोई प्रकाश पड़ता है? और क्या इसके फलस्वरूप किसी समाधान की दिशा की सम्भावना का उद्घाटन होता है?

सर्वप्रथम प्रश्न उठता है कि 'सत्' की उद्भावना विचार को उद्दीप्त क्यों करती है? क्यों यह विचारक के लिए समस्यामूलक हो उठती है? साधारण दैनन्दिन व्यवहार के स्तर पर अथवा उसके सन्दर्भ में भ्रम या भ्रान्ति या दिग्भ्रान्ति को लेकर सत् एवं असत्, सत्य एवं मिथ्या, यथार्थ एवं काल्पनिक के भेद के विषय में अन्वीक्षा के अवसर आते हैं। बड़ी सीमा में इस सन्दर्भ में कामचलाऊ भेद भी कर लिये जाते हैं तथा ऐसे तरीके हैं जिनके आधार पर 'क्या वास्तविक है' इसका निश्चय कर लिया जाता है। समस्या तब उत्पन्न होती है जब भेद के आधार को एक सुनिश्चित तार्किक, निरपवाद तथा पूर्णतया प्रामाणिक सिद्धान्त का रूप देने का प्रयास किया जाता है। ऐसे प्रयास में एक आधारभूत कठिनाई यह रहती है कि इसका निश्चय कैसे किया जा सकता है कि अमुक सिद्धान्त सभी वांछनीय अपेक्षाओं को पूरा करता है; अथवा ऐसे सिद्धान्त को निश्चित करने की प्रणाली क्या है?

साधारण स्तर पर 'सत्' को लेकर जो उलझनें उठती हैं उनमें स्वयं सत् नहीं अपितु किसी वस्तु अथवा विषय-विशेष का सन्दर्भ रहता है। दार्शनिक स्तर पर किसी वस्तु अथवा

* यूं तो सत्, यथार्थ, वास्तविक—इन पदों में भेद लक्षित किया जा सकता है, परन्तु ये पर्यायवाची के रूप में भी प्रयुक्त होते हैं। जहां तक वर्तमान निबन्ध का प्रश्न है, हम उनके भेद की अवहेलना करेंगे।

विषय–विशेष से निरपेक्ष सत् के स्वरूप के सम्बन्ध में प्रश्न उठाया जाता है। परन्तु स्वयं कुछ दार्शनिक ही इस परिवर्तन को शंका की दृष्टि से देखते हैं तथा सत् मात्र की अवधारणा के प्रति जिज्ञासा पर प्रश्नचिह्न लगा देते हैं। इस अवस्था में यह प्रश्न महत्त्व का हो जाता है कि क्या सत् मात्र के विषय में प्रश्न उठाना सार्थक है? कुछ भी हो, यह प्रश्न तो उठता ही है कि जब किसी विषय अथवा वस्तु को यथार्थ या वास्तविक कहा जाता है तो ये विशेषण किस ओर इंगित करते हैं? यह जिज्ञासा हमें सत् के स्वरूप के विषय में जिज्ञासा के बहुत निकट ले आती है।

विशेष तथा सामान्य सन्दर्भों के अतिरिक्त सत् के विषय में उलझन का एक अन्य स्रोत विज्ञान के सिद्धान्त–तन्त्रों में उपलब्ध होता है। सामान्यतया वैज्ञानिक का लक्ष्य गोचर-जगत् की सत्ताओं तथा उसमें घटने वाली घटनाओं के आधार में उन संरचनाओं तथा नियमितताओं का निर्धारण है जो वस्तुओं की प्रकृति एवं स्वरूप पर तथा घटनाओं की प्रक्रिया पर प्रकाश डालें। ये निर्धारण जिन वाक्यों अथवा अभिव्यक्तियों में रूपायित हों उनसे अपेक्षित है कि वे सत्य हों। यही नहीं, इन अभिव्यक्तियों में परस्पर एक तन्त्रात्मक सम्बन्ध की भी अपेक्षा होती है। यह स्थिति विज्ञान के आदर्श स्वरूप की ओर इंगित करती है। कहा जा सकता है कि बड़ी सीमा में, तथा अनेक सिद्धान्तों के सन्दर्भ में विज्ञान की व्यावहारिक सफलता, उसके तकनीकी वर्चस्व, के आलोक में विज्ञान ने आदर्श की इस दिशा में कुछ प्रगति भी की है। परन्तु सैद्धान्तिक तन्त्र के स्तर पर एवं ज्ञानात्मक सन्दर्भ में कुछ ऐसी समस्याएं सामने आती हैं जो 'सत्' की दृष्टि से उलझाव उत्पन्न करती हैं। पहली बात तो यह है कि लगभग सभी दार्शनिक, चाहे वे प्रत्ययवादी हों अथवा वस्तुवादी, यह स्वीकार करते हैं कि संवेद्य अथवा आनुभविक स्तर के तथ्यों के विषय में सामान्य कथन निर्विवाद एवं निर्भ्रान्त रूप में सत्य नहीं हो सकते, वे न्यूनाधिक संभाव्य रूप में ही सत्य होते हैं। दूसरे, सिद्धान्ततंत्र के स्तर पर कुछ ऐसी अवधारणाओं का प्रयोग करना पड़ता है जिनकी सहवर्ती आनुभविक सत्ताएं अन्य सत्ताओं की भांति उपलब्ध नहीं होतीं। ये बातें इस बात को प्रश्नात्मक बना देती हैं कि वैज्ञानिक सत् अथवा सत्य का निर्वचन करता है।

समाजशास्त्र तथा कला के क्षेत्र में 'सत्' के विषय में और अधिक जटिल प्रश्न उपस्थित होते हैं। इस क्षेत्र में अनेक ऐसी अवधारणाओं का व्यवहार होता है जिनका स्वरूप स्पष्ट तथा निर्विवाद नहीं है। समाज, संस्था, संस्कार, परम्परा, धर्म, पुरुषार्थ, राज्य, नीति, कुछ ऐसी ही आधारभूत अवधारणाएं हैं। समाजशास्त्रीय सन्दर्भ हो अथवा दार्शनिक, बहुधा यह स्पष्ट नहीं होता कि कब ये अवधारणाएं प्रदत्तों अथवा तथ्यों का निर्देश करती हैं तथा कब उनका इशारा किन्हीं मानक प्रारूपों की ओर होता है। इसी प्रकार यह भी स्पष्ट नहीं होता कि किसी विशेष प्रयोग में कब किसी विचार- निरपेक्ष तथ्य की ओर संकेत है और कब वैचारिक संरचना अथवा विकल्प की ओर संकेत है।

यही प्रश्न एक और रूप में समाज के सन्दर्भ में सत् को लेकर उत्पन्न होता है। कई बार तो जिस सत् अथवा वास्तविकता की ओर हमारा संकेत होता है वह वह होता है जिससे हम टकराते हैं, जिसका हम सामना करते हैं, और कई बार वह हमारे सोचने, हमारे व्यवहार या कर्म का (व्यक्ति-चेष्टा अथवा सामूहिक चेष्टा के रूप में) फल होता है। जो प्रथम क्षण

असत् होता है वही पीछे सत् का रूप ग्रहण कर लेता है । एक विलक्षण रूप में इसके उदाहरण मिथ्या अफवाहों के सत्य रूप ले लेने में लक्षित किये जा सकते हैं : असत् अथवा मिथ्या का यह रूपान्तरण सामाजिक सत् के प्रश्न को अधिक जटिल रूप दे देता है ।

समाज के अध्ययन में, और समाज एवं सामाजिकता के दैनन्दिन साधारण अनुभव में सभी को किन्हीं ऐसे प्रभावों का बोध एवं चेतना होती हैं जिनकी वास्तविकता को नकारना अपने को पाशविक स्तर पर ले जाना है । इन प्रभावों के स्रोत के रूप में जो घटक हैं उनका क्या रूप है यह तो विवादग्रस्त विषय है परन्तु उनके होने से इनकार नहीं किया जा सकता। प्रश्न उठता है, उनका होना किस प्रकार का होना है ?

इसी प्रकार व्यक्ति को, चाहे वह आस्तिक हो या नास्तिक, किन्हीं ऐसी आस्थाओं अथवा निष्ठाओं का आश्रय लेना पड़ता है जो उसके विचारों, आदर्शों, नीति तथा व्यवहार को व्यवस्था देती हैं, जिनका अस्वीकार जीने के आधार को छीनना होता है । इन आस्थाओं के स्रोत के विषय में सत् की दृष्टि से पुनः यह प्रश्न उठता है कि उनका होना कैसा होना है ?

इतिहास के सन्दर्भ में जो अतीत से सम्बन्धित बोध है वह स्मृत सत् की ओर इंगित करता है । एक व्यापक धरातल पर स्मृति से सम्बन्धित सत् इतिहास-विशिष्ट ही नहीं अपितु समग्र ज्ञान से जुड़ता है । स्मृति के रूप में जो हमारे समक्ष है वह वास्तविक है अथवा नहीं ? दार्शनिकों के बीच यह बात लगभग एक मान्यता जैसी है कि मात्र क्षण के सन्दर्भ में ज्ञान नहीं हो सकता । यदि ज्ञाता तथा ज्ञेय दोनों क्षणिक हों अथवा उनका सम्पर्क क्षणिक हो, एवं उसमें दूसरा क्षण नहीं हो, तो ज्ञान नहीं हो सकता । अन्य शब्दों में, ज्ञान में स्मृति की अनिवार्य भूमिका होती है । सरलतम ज्ञान भी इस दृष्टि से उससे कहीं अधिक जटिल होता है जो आपाततः प्रतीत होता है ।

कला के क्षेत्र में तो सत् का स्वरूप बहुत उलझ जाता है । हम जो नाटक देख रहे हैं, वह वास्तविक है अथवा नहीं ? प्रश्न उठता है कि नाटक में हम क्या देख रहे हैं ? किसकी वास्तविकता की बात हो रही है ? बहुधा कृतिकार अथवा सर्जक यह दावा करते प्रतीत होते हैं कि वे वास्तविकता का अनुभव करते हैं, सत् का साक्षात्कार करते हैं तथा अपनी कृति अथवा रचना के द्वारा वे इसी सत्य का सम्प्रेषण करना चाहते हैं । परन्तु यह सत्य सत्य के रूप में कैसे पहचाना जाय ? इस सम्बन्ध में कैसे आश्वस्त हुआ जाय ? इसके अतिरिक्त, व्यक्ति तथा समाज को कला से जो संस्कार मिलते हैं, जो व्यक्ति तथा समग्र समाज को काम्य एवं वांछनीय मूल्यों से युक्त करते हैं उन संस्कारों के आधार में क्या कोई सत् है ?

दार्शनिकों के लिए स्वयं असत् भी सत् को लेकर आधारभूत समस्या को जन्म देता है । जो 'सत्' या 'वास्तविक' नहीं है उसका क्षेत्र अपरिमित है, वह मिथ्या, संभव, यहाँ तक कि असंभव तक फैला है । जो नहीं है, जो आत्यन्तिक रूप में नहीं है, उसकी बात कैसे की जा सकती है ? तब जब भी कोई बात की जाती है, क्या वह व्यक्त अथवा अव्यक्त रूप में सत् की ओर इंगित नहीं करती ?

यह तो स्पष्ट है कि उपर्युक्त सन्दर्भ परस्पर भिन्न प्रकार के हैं । तब क्या उनमें प्रयुक्त सत् अथवा वास्तविकता की अवधारणा भी भिन्न-भिन्न प्रकार की है ? भिन्न प्रकार की

वास्तविकताओं से क्या अर्थ लिया जा सकता है ? यदि ऐसा नहीं है तो क्या उनमें किसी एक ही सत् का निर्वचन है ? क्या सत् के सम्बन्ध में कोई एक सिद्धान्त खोजा जा सकता है जिससे उपर्युक्त सभी प्रकार की वास्तविकताओं का निर्वचन किया जा सके, अथवा उन्हें समझा जा सके ? या सत् को सापेक्ष जानकर उसके सम्बन्ध में अनेक सिद्धान्तों की खोज आवश्यक है ?

दार्शनिक विचार की एक विशेषता यह प्रतीत होती है कि जिस भाषा में, जिन कोटियों अथवा प्रत्ययों के माध्यम से विचार-प्रक्रिया की गति सम्भव होती है वे एक अन्य स्तर पर स्वयं अपने सम्बन्ध में किन्हीं मान्यताओं को पूर्वापेक्षित रखते हैं। वर्तमान दृष्टान्त में 'वास्तविकता' अथवा 'सत्' का प्रयोग सामान्य को लेकर किसी मत-विशेष की ओर इंगित करता है। सामान्य शब्दों के प्रयोग के विषय में यह समस्या सर्वविदित है कि वे जब अनेक सन्दर्भों में प्रयुक्त होते हैं तो क्या वे भिन्न तत्त्वों या घटकों का संकेत करते हैं याकि उन भिन्न स्थितियों में किसी एक ही परन्तु समान अथवा एकरूप घटक का संकेत करते हैं ? अन्य शब्दों में, 'वास्तविकता' अथवा 'सत्' को लेकर उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर सामान्य शब्द के प्रयोग के सम्बन्ध में मत-विशेष से निर्धारित हो सकता है। इस विकल्प में कठिनाई यह है कि दूसरी दृष्टि से देखने पर जिसे उत्तर या समाधान के संकेत के रूप में देखा जा रहा है वह वास्तव में समस्या हो तथा जिसे समस्या कहा जा रहा है वह समाधान के संकेत का रूप ग्रहण कर ले।

'सामान्य' शब्द से अनेक अभिप्राय लिये गये हैं; यथा शब्द-प्रकार, मानसिक विचार, अथवा स्वतन्त्रतः सत्तावान्। सामान्य रूप में 'सत्' शब्द का प्रयोग इन तीनों में किसी एक विकल्प के लिए हो सकता है। जब हम किसी शब्द का सामान्य के रूप में प्रयोग करते हैं तो अनजाने हमारे प्रयोग में इनमें से किसी एक विकल्प की दिशा में निर्देश होता है। यदि हम निर्देश को व्यक्त रूप में ग्रहण करें तब समाधान का आभास होगा, क्योंकि किसी भी विकल्प का चयन इस दृष्टि से एक समस्या है कि चयन का आधार क्या है।

इसके अतिरिक्त, ठीक इसी सन्दर्भ में शब्द-विशेष का प्रयोग विशेष के लिए हो रहा है अथवा सामान्य के लिए यह भी अव्यक्त रूप में वही प्रभाव डालता है।

सत् अथवा वास्तविकता का प्रयोग विशेष के रूप में हो अथवा सामान्य के रूप में, किन्तु केवल इस प्रकार के प्रयोग मात्र से यह स्पष्ट नहीं होता कि सत् अथवा वास्तविकता से आशय क्या लिया जा सकता है ? कुछ विचारकों का मत है कि सत् या वास्तविकता के विषय में सभी प्रश्न सार्थक नहीं हो सकते। यदि जिज्ञासा यह है कि अमुक सत्तावान् है या नहीं, अथवा अमुक वास्तविक है या नहीं, तब तो प्रश्न के विषय में समाधान तलाश करना सार्थक होगा, और इस सम्बन्ध में साधारण स्तर पर ही तथा साधारण उपलब्ध रीतियों से ही समाधान तलाश किया जा सकता है। इसके विपरीत, यदि प्रश्न सत् के विषय में कुछ इस प्रकार उठाया जाय कि उसे किसी विशिष्ट के सन्दर्भ में सोचने की आवश्यकता ही न हो तब यह बहुत कम स्पष्ट होता है कि हम क्या जानना चाह रहे हैं। फलतः समाधान अथवा उत्तर क्या हो सकता है यह बाद की बात हो जाती है। सत् अथवा वास्तविकता स्वयं अपने में क्या है ? समस्त निर्धारित एवं विशिष्ट विषयों से परे अथवा भिन्न क्या सत् जैसा कुछ है ? यदि

वह अनिवार्य है, अविशिष्ट है, तब वह क्या है ? हम क्या जानना चाह रहे हैं? जिन्हें ये प्रश्न सार्थक अथवा सही जान पड़ते हैं वे कुछ इस प्रकार सोचते प्रतीत होते हैं : यदि हम यह नहीं जानते कि सत् अथवा वास्तविकता क्या है तो हम यह भी नहीं समझ सकते कि विशिष्ट को वास्तविक कहने से हमारा क्या आशय है ? वास्तविक एवं कल्पना अथवा आभास का जो भेद हम करना चाहते हैं वह हमारे लिए संभव नहीं होगा यदि हमें सत् एवं वास्तविकता का पहले से कोई बोध नहीं हो । इस ख्याल से जुड़ा हुआ एक दूसरा ख्याल भी है जिसके लिए यह आवश्यक नहीं कि वह उससे कोई अनिवार्य गठबन्धन रखता हो । इस दूसरे विचार के अन्तर्गत ऐसा सोचा गया है कि सत् किसी वस्तु अथवा विषय की वह अवस्था है जिसमें उस वस्तु अथवा विषय का अभी कोई निर्वचन हुआ नहीं होता । कभी-कभी यहां एक और इससे मिलता-जुलता विचार मिलता है और वह है सत् को इस रूप में देखना कि, वह जो अनेक रूप ग्रहण करने की प्रतीक्षा में है । इन कल्पनाओं में सत् अथवा वास्तविकता को एक आद्य अवस्था के रूप में ग्रहण किया जा रहा है । विचार के स्तर पर उससे एक ऐसे सामान्य प्रत्यय का बोध लिया जा रहा है जिससे अधिक सामान्य कोई और प्रत्यय नहीं हो सकता ।

कदाचित् इस सामान्य को ध्यान में रखकर अथवा अव्यक्त रूप में इससे प्रेरित हो विचार के भाषायी स्तर पर यह प्रश्न उठाया जाता है कि 'कुछ है' में 'है' से क्या आशय है, तथा वे अवस्थाएं क्या हैं जिनमें 'है' का प्रयोग सही समझा जा सकता हो ? इस प्रकार प्रश्न को रखने का एक व्यक्त आधार यह बताया जाता है कि सत् अथवा असत् के विषय में बात करने के लिए एक तटस्थ धरातल चाहिए और यह धरातल भाषायी ही हो सकता है । यदि हमें यह धरातल प्राप्त नहीं है तो किसी विषय का आत्यन्तिक नकार या निषेध सम्भव ही नहीं होगा ।

इस स्तर पर जो समाधान प्रस्तुत किया गया है वह एक प्रकार से इतना व्यापक रूप ले लेता है कि यथार्थ और कल्पना के भेद की आवश्यकता ही नहीं पड़ती । यदि यह स्वीकार कर लिया जाय कि 'है' का प्रयोग सन्दर्भ से निश्चित होता है तथा सन्दर्भाधीन जिन विषयों के सम्बन्ध में चर्चा की जा रही है उनका अस्तित्व पूर्वापेक्षित है, तब तो किसी के भी होने को सन्दर्भ देकर वास्तविकता प्रदान की जा सकती है । यदि श्रद्धा का सन्दर्भ लें तो ऐसी अनेक सत्ताओं का स्वीकार विवेकसम्मत हो जायगा जो अन्यथा कल्पना-प्रसूत लगती हैं, या भौतिक अथवा साधारण दृष्टि से असम्भव भी प्रतीत होती हैं ।

दार्शनिक अन्वीक्षण सुनिश्चित ज्ञान की दिशा में प्रवृत्त होता है । फलस्वरूप दार्शनिक की चेष्टा किसी ऐसे सिद्धान्त अथवा पद्धति की तलाश की होती है जिसके माध्यम से सुनिश्चित ज्ञान तक पहुँचना सम्भव हो । यद्यपि कुछ विचारकों ने साधारण अनुभव को मार्ग-निर्धारक माना परन्तु अधिकांश विचारकों के लिए साधारण अनुभव अथवा ज्ञान अन्वीक्षण के लिए परोक्ष अथवा गौण रूप में प्रासंगिक तो हो सकता है, उसे निर्धारक का स्थान नहीं दिया जा सकता । ये विचारक किसी ऐसी तार्किक अथवा भाषायी तरकीब की तलाश करते हैं जो बिना ऐन्द्रिक अनुभव का आश्रय लिए सत्-असत् के भेद में संकेत दे सके । विश्लेषणात्मकता की अवधारणा, आत्मव्याघात की अवधारणा, टटॉलोजि की अवधारणा इसी दिशा में अत्यधिक महत्त्व पा गईं । परन्तु जैसा दर्शन के क्षेत्र में सर्वविदित है, ये अवधारणाएँ स्वतः समस्यात्मक बन गईं । ऐसा कहना भ्रान्त नहीं होगा कि अभी तक दार्शनिकों को ऐसी

कोई तार्किक तरकीब उपलब्ध नहीं हुई है जो सत् अथवा वास्तविकता के निर्धारण की दिशा में सफलता की ओर ले जाने वाली हो।

प्रश्न यह है कि ऐसी स्थिति क्यों है ? इस शती के दार्शनिकों ने इस प्रश्न पर विचार के क्षेत्र खोलकर एक महत्त्वपूर्ण काम किया है कि दार्शनिक प्रश्नों की सार्थकता का निश्चय कैसे किया जाय। इस प्रसंग में सही प्रश्नों तथा प्रश्नाभासों की ओर लक्ष्य किया गया। परन्तु इस दिशा में और अधिक चिन्तन एवं अन्वीक्षण की अपेक्षा है, विशेषकर इस दिशा में कि किसी दार्शनिक जिज्ञासा में क्या सन्निहित होता है।

वर्तमान प्रसंग में इस आलोक में हम यह देखने का प्रयास करेंगे कि सत् अथवा वास्तविकता को लेकर दार्शनिक की जिज्ञासा में क्या सन्निहित होता है। इस सम्बन्ध में इस बात पर भी ध्यान देना होगा कि समाधान तलाश करते समय कोई दार्शनिक किसी विशेष तरीके को क्यों अपनाता है तथा किन्हीं अन्य रास्तों को क्यों छोड़ देता है ? किस प्रकार का उत्तर उसकी जिज्ञासा का शमन कर सकता है ?

इस प्रकार की अन्वीक्षा अलग--अलग दार्शनिकों के सन्दर्भ में हमें भिन्न--भिन्न दिशाओं में ले जा सकती है। किन्तु इस लेख में यह कार्य सम्भव नहीं है इसलिए अपर्याप्तता और भ्रांति की सम्भावना को स्वीकार करते हुए भी यहां विचार विस्तृत रूप में नहीं करके सामान्य रूप में ही हो पायेगा।

अब, यदि आरम्भ में वर्णित विभिन्न सन्दर्भों की ओर पुनः ध्यान दें तो हम पायेंगे कि सत् या वास्तविकता के विषय में अनेक पूर्वापेक्षाएं सामने आती हैं। सत् अथवा वास्तविकता की अवधारणा ऐन्द्रिक ग्रहण एवं देश–काल-सन्दर्भ से इतने अटूट सम्बन्ध में जुड़ी लगती है कि कुछ विचारकों के लिए सभी संस्कृतियों में यही एकमात्र सन्दर्भ है जो सत् एवं वास्तविकता को निर्धाति करता है। यह संस्कार इतना सुदृढ़ प्रतीत होता है कि वह सत् के किसी अन्वीक्षण में एक पूर्वापेक्षा के रूप में विद्यमान रहता है, चाहे वह अव्यक्त ही क्यों न हो।

एक अन्य पूर्वापेक्षा जो सत् के अन्वीक्षण को प्रभावित करती है वह उन वैचारिक कोटियों, संरचनाओं तथा निरूपकों से जुड़ी है जिनके बिना किसी भी विषय के सम्बन्ध में चर्चा करना असम्भव होगा। जब कभी भी किसी वाक्य के सार्थक एवं सत्य--सूचक होने के सन्दर्भ में बात होती है तो बहुधा तथ्यों के आकार एवं वाक्यों के आकार की समरूपता का प्रश्न उठाया जाता है।

सार्थकता तथा सत्यता की बात के सन्दर्भ में तथ्यों की अथवा साधारण अनुभव की महत्त्वपूर्ण भूमिका है, यह तो स्पष्ट लगता है परन्तु किसी कथन या वाक्य में इनके निर्देशार्थ जिस अभिव्यक्ति का प्रयोग होता है अथवा जिन विचार–कोटियों का समावेश होता है उनकी भूमिका सत् की दृष्टि से इतनी स्पष्ट नहीं होती।*

सरलतम तथ्यात्मक कथन में भी इन भाषायी एवं वैचारिक घटकों को ध्यान देने पर देखा जा सकता है। जब हम कहते हैं 'यह वृक्ष है' तब 'यह' किसी निर्विकल्प अथवा अनिर्धारित

* एक दृष्टि से सत् ऐसी कल्पनाओं से (यहाँ कल्पना से संरचना का अर्थ लें, जैसा बौद्ध प्रयोग में मिलता है) परे होता है। कथन अथवा वाक्य में रूपायित होते ही वह अपने वास्तविक स्वरूप से दूर हट जाता है।

विशिष्ट को वृक्ष की सामान्य कोटि से जोड़ता है। यही नहीं, विषयगत दृष्टि से 'वृक्ष' के विषय-रूप बोध में भेद, अभेद, सातत्य तथा अन्य विषयों से विभिन्न सम्बन्धों जैसी विचार--कोटियों का समावेश भी रहता है। इसके अतिरिक्त भाषायी चिह्नों के प्रयोग से पूर्व-परिचय तो अपेक्षित हैं ही। प्रश्न उठता है कि तथ्यों को प्रस्तुत करने के निमित्त इन भाषायी एवं वैचारिक घटकों की सत् की दृष्टि से क्या स्थिति है? क्या यह पूर्वापेक्षित नहीं है कि जो सार्थकता तथा सत्यता की रक्षा में सहायक है वह स्वयं भी सत् हो? परन्तु यह सत् का कैसा रूप है?

इसी दिशा में वैचारिक संरचनाओं अथवा अर्थ-निष्पन्नता अथवा संगति के निमित्त वैज्ञानिकों को किन्हीं ऐसे घटकों को स्वीकार करना पड़ता है जो साधारण रूप में न तो ग्राह्य है और न सूक्ष्म यन्त्रों की पकड़ में आता है, परन्तु जो वैज्ञानिक व्याख्या की संगति एवं पर्याप्तता के लिए आवश्यक है। फलतः वैज्ञानिक व्याख्या की स्वीकृति की दृष्टि से इन घटकों के सत् अथवा वास्तविकता के विषय में वैज्ञानिक ऐसा सिद्धान्त नहीं स्वीकार करना चाहेंगे जिसमें इन सैद्धान्तिक घटकों की उपेक्षा हो, अथवा वे असत् ठहरें।

उपर्युक्त पूर्वापेक्षाएं विभिन्न संदर्भों से सम्बन्धित हैं, उनसे सामान्य स्तर पर सम्बन्धित कुछ और पूर्वापेक्षाएं हैं। इन पर स्वतन्त्र रूप से भी विचार किया जा सकता है। सर्वप्रथम, एक ओर तो जो अनुभूत है—ऐन्द्रिक, वैचारिक अथवा किसी अन्य स्तर पर, चाहे वह कितनी ही क्षणिक घटना अथवा विषय क्यों न हो, वह सत्, यथार्थ अथवा वास्तविक है; दूसरी ओर बहुधा हम उसी को सत् का दर्जा देना चाहते हैं जो क्षणिक न हो, जो देशकाल से अतीत हो। एक दृष्टि सत् के क्षणिक रूप को भी स्वीकार करती है तो दूसरी उसे नकार कर केवल शाश्वत को ही सत् से जोड़ती है।

इसी प्रकार एक ओर सत् को उसके अनुभव से अथवा उसकी अनुभूति से अपृथक् रूप में ग्रहण किया जाता है तो दूसरी ओर उसे इस रूप में ग्रहण करने का प्रयास होता है कि वह किसी व्यक्ति के अनुभव अथवा अनुभूति पर आश्रित नहीं होता। प्रथम दृष्टि से सत् को चित् से अलग नहीं समझा जाता अपितु उसे चित् से अभिन्न रूप में ही ग्रहण किया जाता है, जबकि दूसरी दृष्टि से सत् को चित् से नितान्त स्वतन्त्र समझा जाता है।

इन्हीं के समानान्तर श्रद्धा तथा साधारण ग्राह्य वस्तु के क्षेत्रों में सत् की विपरीत अपेक्षाओं को देख सकते हैं। जिसके लिए सत् श्रद्धा का विषय है अथवा अपरिहार्य बोध या ज्ञान का विषय है, उसके लिए उसका मूल्य तथा उसके जीवन का मूल्य बराबर है। वह जीवन को त्याग सकता है परन्तु अपने श्रद्धेय विषय को नहीं। दूसरी ओर जिससे हम टकराते नहीं, जिससे हमारी क्रिया-प्रतिक्रिया की सम्भावना न हो, जो किसी रूप में ग्राह्य न हो, वह हमारे लिए सत् नहीं है। इस दूसरे क्षेत्र में हम एक सार्वजनिक जगत् के सन्दर्भ को सामने रखते हैं तथा इस जगत् में मानवीय तथा प्राकृतिक स्तर पर क्रिया-प्रतिक्रिया, आदान-प्रदान की सम्भावना के रूप में ही सत् को ग्रहण करते हैं।

एक और दिशा में देखने पर हम एक ओर सत् उसे कहना चाहते हैं जो तथ्य-जगत् की परिधि बनाता है, तथा दूसरी ओर हम सत् उसे कहना चाहते हैं जो किसी विषय अथवा वस्तु का अपने स्वरूप के रूप में चरितार्थ होना है। इस दूसरे अर्थ में केवल होना ही वस्तुतः होना नहीं है। इस बिन्दु पर दर्शन का अधिकांश वाङ्मय समर्पित है।

उपर्युक्त सामान्य पूर्वापेक्षाएं एक प्रकार के विरोध प्रस्तुत करती हैं जो सत् के विषय में एक सम्यक् सिद्धान्त तन्त्र की कल्पना अथवा शोध में बाधक है ।

परन्तु एक बिन्दु पर इनमें से किसी भी पूर्वापेक्षा को लें वह निषेध से सम्पृक्त होगी है । उस पूर्वापेक्षा का पूरा होना एक ओर सत् विषयों की ओर संकेत करता है तो दूसरी ओर असत् विषयों की ओर । यदि कुछ वास्तविक है तो कुछ काल्पनिक, यदि कुछ यथार्थ है तो कुछ अयथार्थ । परन्तु यह भेद विचार-सापेक्ष है । क्या विचारेतर रूप में यह भेद व्यवहार्य होगा ? किसी भी विषय की ओर इंगित करके, वह चाहे किसी भी स्तर अथवा रूप में हो, यह कहा जा सकता है कि वह सत् नहीं है, वास्तविक नहीं है, यथार्थ नहीं है। इस प्रश्न का नकार जिस ओर संकेत करता है वह सत् की एक ऐसी पूर्वापेक्षा है जहां सत्-सम्बन्धी मूल जिज्ञासा स्वघाती सिद्ध होती है । सत् के अतिरिक्त अथवा उससे इतर कुछ हो सकता है क्या ? क्या असत् का समावेश सत् में ही करना होगा ? अथवा सत् एवं असत् दोनों से परे जाना आवश्यक है ? इस संकेत को क्या कोई अर्थ देना सम्भव है ? नवें अध्याय के उन्नीसवें श्लोक में कृष्ण अर्जुन से कहते हैं "....सदसच्चाहमर्जुन ।।" और ग्यारहवें अध्याय में अर्जुन की अनुभूति है कि कृष्ण सत्-असत् से परे हैं —"....सतसत्तत्परं....।।" क्या आशय हो सकता है इन अभिव्यक्तियों का ? और क्या प्रकाश पड़ता है इनसे सत् की समस्या पर ?

इस संक्षिप्त वैचारिक प्रयास में दर्शन के स्वरूप के सम्बन्ध में कुछ महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है । साधारणतया दार्शनिक प्रश्नों के समाधान विभिन्न दार्शनिक दृष्टयों के विकल्प के रूप में प्रस्तुत होते हैं तथा सम्बन्धित प्रश्नों के उत्तर का आभास देते हैं, परन्तु वस्तुस्थिति कुछ और प्रतीत होती है । प्रश्न उठाते समय ही प्रश्नकर्ता किसी धरातल विशेष अथवा विशेष अपेक्षा-बिन्दु को ग्रहण कर लेता है, अव्यक्त रूप में उसका प्रश्न समाधान के स्वरूप को अपने में सन्निहित रखता है; यह बात पूर्वापेक्षित है कि प्रश्न के उत्तर के रूप में किसी प्रकार का उत्तर अथवा समाधान स्वीकार्य होगा । वस्तुतः जिसे उत्तर अथवा समाधान कहा जाता है वह उत्तर अथवा समाधान का आभास होता है । उसमें जो अभिव्यक्त होता है वह उत्तर अथवा समाधान से की जाने वाली अपेक्षाएं होती हैं । इस दृष्टि से कदाचित् यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि दार्शनिक प्रक्रिया हमें हमारी जिज्ञासा के विषय में और अधिक स्पष्टीकरण की ओर ले जाती है, हम यह और स्पष्ट रूप में समझने लगते हैं कि हमें कैसा उत्तर चाहिए, हम क्या जानना चाहते हैं ? पर वस्तुतः हमारी जिज्ञासा का कोई समाधन है, यह संदिग्ध ही रहता है । वास्तव में तथाकथित दार्शनिक उत्तर या समाधान सम्बन्धित प्रश्न एवं जिज्ञासा की व्यापक गूंज से अधिक कुछ नहीं होते ।

राजेन्द्रस्वरूप भटनागर
दर्शन विभाग,
राजस्थान वि. वि., जयपुर

टिप्पणी

क्या भारतीय संस्कृति सम्मिश्र संस्कृति है ?*

शल्य जी के इस मन्तव्य से सहमत होते हुए, कि हर्षनारायण जी के लेख का उद्देश्य इतिहास-निरूपण नहीं, भविष्य विषयक निर्णय और निर्धारण है, मैं प्रस्तुत विषय के सन्दर्भ में अपना ऊहापोह प्रकट करना चाहता हूँ। मुझे लगता है कि १९४७ के सही ऐतिहासिक निर्णय के बावजूद भारत का अधिकांश बुद्धिजीवी वर्ग इस बारे में—याने भारत की भावी के बारे में, उसकी नियति और आत्म-चरितार्थन की सही दिशा के बारे में—बहुत स्पष्ट और निर्भ्रान्त नहीं है। न केवल यह कि वह उस द्विविध मानसिकता और द्वंद्व का सीधा उत्तराधिकारी है जो इसी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में गाँधी और टैगोर, गाँधी और नेहरू, गाँधी और एम.एन.रॉय के बीच मतभेद के रूप में (और गाँधी तथा श्री अरविन्द के बीच के दृष्टि-भेद के रूप में भी) प्रकट रहा था; बल्कि यह भी कि आज हमारी बौद्धिक और स्नायविक हालत वास्तव में कुछ वैसी ही है जैसी संशय और मोह में पड़े हुए अर्जुन की थी : बाहरवालों की नज़र में ही क्यों, खुद अपनी दृष्टि में भी हम 'धर्मसंमूढ़चेता' और 'कार्पण्यदोष' से उपहत स्वभाव' वाले ही सिद्ध हो रहे हैं। हर्षनारायण जी के लेख की उष्णता प्रकारान्तर से हमारे शासक वर्ग और अधिकांश बुद्धिजीवी वर्ग के भीतर प्रकट हो रहे उस हृदय-दौर्बल्य की ही प्रतिक्रिया है जिसके दो प्रधान लक्षण तुष्टीकरण और सेक्युलरवाद के प्रति आत्म-समर्पण माने जाने चाहिएं। दरअसल ये दोनों हमारे सांस्कृतिक वैशिष्ट्य की ही विकृतियाँ हैं। कमजोर आदमी के गुण भी दुर्गुण बन जाते हैं। यदि हम मात्र इन दो लक्षणों पर ध्यान केंद्रित करें तो हम पाएँगे कि हममें सही बात को भी मनवा पाने का साहस और आत्मविश्वास नहीं रहा है। भारतीय सस्कृति की उदारता का बखान करना एक बात है और उस उदारता के मूल में जो दृष्टि, जो सत्य है उसे आज के संसार के बीचों-बीच ज़ोर देकर स्थापित करने की चुनौती को

* उन्मीलन के पिछले अंक में इस विषय पर हर्षनारायण जी और शल्य जी के लेख प्रकाशित हुए थे। यहां मैं उस चर्चा को आगे बढ़ाते हुए अपने विचार प्रस्तुत करना चाहता हूं।

स्वीकारना बिल्कुल दूसरी बात है। अगर हम इस चुनौती को स्वीकार नहीं करते तो हमारे सामने आत्म-विघटन का खतरा प्रत्यक्ष है ही।

मिसाल के तौर पर, मैं नहीं समझता कि हम भारतीयों में से कोई भी ईसाई संस्कृति का, और स्वयं नैष्ठिक ईसाइयों का उतना घनिष्ठ मित्र रहा होगा जितना महात्मा गाँधी जीवन भर रहे। किन्तु उन्हीं महात्मा गाँधी को जब हम यह कहते सुनते हैं कि 'प्रोजोलिटा-इजेशन इज़ दि डेडलिएस्ट सिन दैट एवर सैप्ड दि फाउण्डेशन्स् आफ़ ट्रुथ,' तो हम पाते हैं कि दूसरी संस्कृतियों से भी सच्चा आत्मीय सम्बन्ध वही बना सकता है जो अपनी संस्कृति के मूल मनोभाव की सच्चाई पर अडिग खड़ा हो सकता है और उस पुख़्ता ज़मीन पर से फटकार कर सच बोल सकता है, चाहे वह सच कितना भी कड़वा क्यों न लगे। अन्ततः मानव-सम्बन्धों, अन्तर-सांस्कृतिक सम्बन्धों, की भी प्रतिष्ठा सत्य पर ही, यानी उस चीज़ पर ही होनी चाहिए जिसे शल्य जी ने 'निर्वयक्तिक औचित्य-विचार' कहा है। मैं समझता हूँ कुरान और बाइबिल की मूल दृष्टि तक जैसी सीधी पैठ भारतीयों की अक्सर हो जाती देखी गई है—महात्मा गाँधी एक तरफ़ और आनन्दकुमार स्वामी जैसे महा विद्वान् दूसरी तरफ जिसके ज्वलन्त उदाहरण हैं—वह इस बात को साबित करती है कि जीवन और जगत् के प्रति भारत की धार्मिक और दार्शनिक दृष्टि में कुछ ऐसा अवश्य है जो समूचे विश्व को एक तथा अखण्ड मानकर उसकी चिन्ता कर सकता है। और यह ऐसा दावा है जो अन्य धर्म-दृष्टियों के बारे में नहीं किया जा सकता। हाइडेग्गर ने पश्चिम की 'मैटाफिज़िकल' परम्परा की जो बुनियादी आलोचना की है, कि उसकी प्रवृत्ति आरम्भ से ही विश्व के अवधारणात्मक वशीकरण की ओर रही और उसी का परिपाक आधुनिक सभ्यता है, वह ध्यान देने योग्य है। यदि भारतीय दार्शनिक संस्कृति का रुझान इससे बिल्कुल अलग—होलिस्टिक, चराचर-सर्ववादी रहा, तो इसके दो कारण साफ दीखते हैं। एक की ओर तो स्वयं शल्यजी ने अन्यत्र एक जगह हमारा ध्यान आकर्षित किया है कि हमारी प्रवृत्ति अपनी ही मुख्य परम्परा को लेकर शंकाएं उठाने की और उन शंकाओं से उद्भूत चिंतन-संरचनाओं को परम्परा के अन्तर्गत ही स्वतन्त्र मान्यता प्रदान करने की रही है। दूसरे कारण को प्रो. जड़ाव लाल मेहता ने इस प्रकार व्यक्त किया है कि "संस्कृत भाषा में और हमारी संस्कृति में, वैदिक युग से ही एक विलक्षणता रही है। हर साँचे को तोड़ डालने की एक अद्वितीय क्षमता भी हमारे यहां विकसित हुई, जो शायद हमारी खास पहचान है, जिसने हमें तत्त्व-दर्शन में एकांगी होने से, एक ही वैचारिक लीक पर चलने से बचाया।"

किन्तु यदि हम इस बारे में आश्वस्त हैं तो राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व के प्रश्नों पर हमारे सारे सोच और निर्णय इतने ढुलमुल क्यों होते हैं? क्यों हम एक आलोचक राष्ट्र का निर्माण नहीं कर पाए? क्यों हमारे सर्वोच्च धर्माचार्य (उदाहरण के लिए पुरी के शंकराचार्य) हिन्दुत्व की हद दर्जे की रूढ़ीवादी धारणाओं से चिपके हैं? क्यों, प्रो. मेहता के शब्दों में.... "अभी तक हमारी औपनिवेशिक स्थिति समाप्त हो जाने के बाद भी, न अपेक्षित अन्वेषण और शोध की मज़बूत नींव डाली गई और न वर्तमान और भविष्य की भारतीय संस्कृति को धारण करने योग्य सशक्त और प्राणवान् बौद्धिक ढाँचा ही दिया गया?[1] यह तो हमें स्वीकार करना

1. कविकर्म और चिन्तन : सर्जना के दो आयाम, पृष्ठ 59, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।

ही पड़ेगा कि 'सम्मिश्र संस्कृति' (यदि इससे हमारा अभिप्राय 'व्यामिश्र'-यानी 'घालमेल वाली संस्कृति' न होकर एक वास्तव में आत्म-विश्वासी, समावेशी और संवादक्षम संस्कृति से है तो) का वर्तमान रूप अगर अस्वस्थ और विकारग्रस्त है तो इसका कारण परम्परा की टूटी हुई रचनात्मक कड़ियों को जोड़ने और पुनः आत्मसात् करने की सामर्थ्य का अभाव ही है। जैसाकि हमारे कवि-चिंतक जयशंकर प्रसाद का भी कहना था—"पाश्चात्य प्रभाव ग्रहण करना हमारी निरुपायता ही नहीं अनिवार्यता भी है", किन्तु वे इसके साथ यह भी जोड़ना नहीं भूले थे कि इस सचेतनता के फलस्वरूप हम अपनी सुरुचि की ओर प्रत्यावर्तन क्यों नहीं करें ? हमारे मौलिक ज्ञान-प्रतीक दुर्बल तो नहीं? "[2] मैं समझता हूँ प्रस्तुत प्रसंग में यह बात महत्त्व की है। यदि हम इसे ठीक-ठीक समझें तो हम एक तरफ़ 'रिवाइवलिज़्म' की और दूसरी तरफ़ 'सेकुलराइजेशन' की अधोगतियों से बच सकते हैं। प्रसाद की इस बात को हमें ध्यान में रखना पड़ेगा कि "संस्कृति विश्ववाद की विरोधिनी, नहीं क्योंकि उसका उपयोग मानव-समाज में आरम्भिक प्राणित्व-धर्म में सीमित मनोभावों को प्रशस्त और विकासोन्मुख बनाने के लिए होता है।"[2]

यहां पर स्वभावतः यह प्रश्न उठेगा कि यदि संस्कृति का वास्तविक कार्य यही है तो संस्कृतियां इतनी अलग और आपस में असमंजस भी क्यों होती हैं ? यह भी कि क्या संस्कृति धर्म से स्वतंत्र और निरपेक्ष हो सकती है ? संस्कृतियां धार्मिक अंतर्दृष्टि के भीतर से ही रूप ग्रहण करती दिखायी देती हैं। देखा जाए तो यूनानी संस्कृति भी अपनी सारी तर्क-जिज्ञासा-मूलकता के बावजूद धर्म-निरपेक्ष नहीं केवल बहुदेववादी है। उसका चिन्तन भी काफी कुछ मिथिकीय चिन्तन से जुड़ा है। जैसे ही यह जुड़ाव भंग होता है वह संस्कृति भी ह्रासोन्मुख हो जाती है। फिर क्या कारण है कि आज संस्कृति की चर्चा में से धर्म को एक दम अलग कर देने की लाचारी हमारे बुद्धिजीवियों को महसूस होती है ? वह इसलिए कि अधिकतर धर्म, और सबसे अधिक व्यापक शक्ति तथा प्रभाव वाले धर्म, अपने संगठनात्मक रूप में दूसरे धर्मावलंबियों के प्रति आक्रामक और असहिष्णु ही बने रहने को और अपनी परिधि के भीतर भी तरह-तरह की हेरेसी (मतवैपरीत्य) को कुचल डालने के लिए विवश है। इसीलिए अपने सेकुलर (लोकायतिक) रूपान्तरण में भी उनकी मूल वृत्ति वही रहती है—आर्थिक साम्राज्यवाद की, गुटबंद प्रतिस्पर्धा की, प्रकृति-द्रोही विजिगीषा की। श्री यशदेव शल्य की यह स्थापना सोलहों आने सही है कि 'आलोचना-द्रोही मानसिकता मुसल्मानों और ईसाइयों को अन्य किसी भी बात से अधिक अभारतीय बनाती है।" वे ठीक ही कहते हैं कि "कोई कारण नहीं है कि भारतीय प्रशासन इस मानसिकता को संरक्षण दे और दूसरों को स्वतंत्र आलोचना के अधिकार से इसलिए वंचित करे कि कोई संप्रदाय इस स्वतंत्रता के प्रति असहिष्णु है।"

इसमें संदेह नहीं कि "स्वातंत्र्योत्तर भारत ने अपने भविष्य की आधारशिला प्रदत्त अतीत के निषेध, यानी उससे स्वातंत्र्य पर ही प्रतिष्ठित की है।" किन्तु इसका मतलब यह भी नहीं कि हमें इस अतीत के असुविधाजनक अंशों पर लीपापोती करते रहना चाहिए अथवा उसकी मनमानी व्याख्या करनी चाहिए। अज्ञेय ने कहीं लिखा है कि "अवस्थिति का अद्वितीय बोध भारतीय संस्कृति की एक बहुत बड़ी विशेषता है और यह विशेषता किसी हद तक उस कमी की क्षतिपूर्ति करती है जिसे इतिहास-बोध कहते हैं।" वे इस बात पर बहुत दुःख प्रकट

2. 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध" लीडर प्रेस, इलाहाबाद।

करते हैं कि "हमें निरंतर इतिहास-बोध की दीक्षा दी जा रही है और अवस्थिति-बोध के संस्कार को मिटाया जा रहा है।" इसमें निश्चय ही सत्य है; किन्तु कमी तो कमी ही है और इतिहास-बोध की कमी को हम इहिास-बोध से ही भर सकते हैं। उदाहरण के लिए, अमीर खुसरो को ही लें : मैं उन ऐतिहासिक तथ्यों से अनजान था जो हर्षनारायण जी के लेख से अथवा विजयदेवनारायण साही की 'जायसी' पर लिखी पुस्तक से उभरते हैं। एक और खुसरो यह भी है और उसे न जानना भूल होगी। किन्तु एक दूसरा अमीर खुसरो भी है—कहीं न कहीं जनमानस में भिदा हुआ अमीर खुसरो, जिसके कारण मेरे जैसे लोगों को वह मध्ययुग का एक रोचक विरोधाभासी चरित्र ही नहीं, एक स्पृहणीय सांस्कृतिक व्यक्तित्व भी लगता रहा। तो दोनों बातें जरूरी हैं। मैं शल्य जी से सहमत हूँ कि "इतिहास के स्वरूप-ज्ञान के लिए घटनाओं और व्यक्तियों को नहीं देखकर जनमानस को देखना उपयुक्त होता है जो मानस कलाओं, वाङ्मय और लोक-व्यवहार में अपने को अभिव्यक्त करता है।" किन्तु इसका मतलब यह भी नहीं कि शोधपूर्वक प्रमाणित ऐतिहासिक तथ्यों को छुपाना या दबाना चाहिए। उन कड़वे तथ्यों के उजागर होने से, मेरा ख्याल है, कोई नुकसान नहीं होता, फायदा ही होता है। व्यक्तित्व अन्तर्विरोधी भी होते हैं। अलावे इसके, मनुष्य अपने जीवन के दौरान विकसित भी होता है, बदलता भी है और अपने परिवेश से प्रभावित और रूपान्तरित तक हो जा सकता है। अमीर खुसरो के साथ ऐसा हुआ हो सकता है और यह घटना कुल मिलाकर भारतीय परम्परा की घुलाने-पचाने की शक्ति और उसके द्वारा गढ़े गए जनमानस में भी हमारे विश्वास को दृढ़ ही कर सकती है। अमीर खुसरो पर अभी हाल एक दूरदर्शन-सीरियल भी प्रस्तुत किया गया था। उसमें बहुत कुछ गड़बड़झाला भी रहा होगा, भावुकता-प्रेरित इच्छित चिंतन भी। किन्तु उसे बनाने वाला जिस भाव से भावित था उसे महज् तुष्टीकरण या लीपापोती कहके खारिज भी तो नहीं किया जा सकता। हां, तथ्य-प्रेरित आलोचना होनी चाहिए, वह अलग बात है। उसकी गुंजाइश बराबर बनी रहे, यह सर्वथा वाञ्छनीय है।

हर्षनारायण जी ने एक ओर भारतीय संस्कृति और दूसरी ओर भारतीय समाज और सभ्यता के बीच विवेक करते हुए दूसरे को सम्मिश्र माना है, पहले को नहीं। चूँकि वे इन दोनों चीजों को अलग करते हुए भी इस यथार्थ को आँखों से ओझल नहीं करते कि "संस्कृति पर भी सभ्यता का प्रभाव पड़ता ही है" अतः मैं नहीं समझता कि उनका आग्रह मताग्रही अथवा शुद्धतावादी है। जब वे कहते हैं "हिन्दू-संस्कृति की उदारता और सहिष्णुता के संस्कार इसे निसर्गतः ही विश्व-मैत्री की ओर उन्मुख कर देते हैं" तो वे तथ्य ही बता रहे हैं। किन्तु अपने यहाँ अभिजन-संस्कृति और जन-संस्कृति की दो कोटियाँ खड़ी करके उनके बीच अलगाव स्थापित करना इतना आसान नहीं है। निश्चय ही संस्कृति का रूपायन अभिजन करते हैं, उसके सर्वोच्च प्रतिमानों के अनुसार जिये जाने वाले जीवन का आदर्श भी वही प्रस्तुत करते हैं—इतर जन जिसका अनुसरण करते हैं। किन्तु, जैसाकि आनन्दकुमार स्वामी ने युक्तिपूर्वक दर्शाया है, जब अभिजन-संस्कृति लुप्त या निःसत्त्व हो जाती है तब उस गिरावट के समय में वे सांस्कृतिक मौलिक ज्ञान-प्रतीक जनसाधारण के विश्वासों और अन्धविश्वासों के भीतर शरण ले लेते हैं और वहीं से उनका उद्धार संभव होता है। हिन्दुस्तान के बारे में तो यह और भी ज़्यादा सच है। यदि ऐसा नहीं होता तो मध्ययुग में संस्कृत की रचनात्मकता के चुक जाने पर

जनभाषाओं में से सांस्कृतिक पुनरुज्जीवन को संभव बनाने वाले उच्चतम कोटि के काव्यों का विस्फुटन कैसे हो पाता ? जनभाषाओं में यह शक्ति आयी कहाँ से ? इसलिए हर्षनारायण जी का यह कहना कि "जन-संस्कृति अपने में नीरूप होती है और उसका किसी भी संस्कृति से सम्मिश्रण सरल होता है" मुझे ठीक नहीं लगता। अधिकार-भेद की बात निश्चय ही यथार्थ है, पर यह नहीं। मुझे तो लगता है, जिसे हम भारतीय संस्कृति के रूप में अनुभव करते हैं उसे किसी तरह एक टूटे-फूटे नैरन्तर्य में क़ायम रखने का श्रेय जन-संस्कृति को भी है। वैसे भी हमारे यहाँ 'क्लासेज़' और 'मासेज़' वाला वर्गीकरण उस तरह लागू नहीं होता। अत्यन्त सामान्य जन के भी सुसंस्कृत होने की संभावना ऐसी संस्कृति के अन्तर्गत अधिक होती है जहाँ काव्य और कथा-साहित्य उच्चतम सांस्कृतिक और दार्शनिक-आध्यात्मिक सत्यों का सहज वाहक बनकर लोक-प्रतिष्ठित और लोकप्रिय हो सका हो, और जहाँ सारे अनुष्ठान प्रकृति-चक्र से संयुक्त होकर जीवन-लीला के भीतर से, जीवन-लीला की शब्दावली में ही सनातन की खोज और अभिव्यक्ति से प्रेरित हों। ऐसी संस्कृति को सम्मिश्रण से कोई ख़तरा नहीं हो सकता; हाँ व्यामिश्र से होता है, 'सेकुलर' और 'डॉग्मैटिक' के व्यामिश्र से। इस खतरे की काट आत्म-रक्षात्मक मुद्रा अपनाने से नहीं हो सकती, सुदृढ़ आत्म-प्रस्थापन से ही हो सकती है। इस सुदृढ़ आत्म-प्रस्थापन के लिए परम्परा के पुनर्मूल्यांकन, पुनर्नवीकरण, तथा संस्कृति के केन्द्र और परिधि के बीच (शल्य जी की शब्दावली में संस्कृति के निरपेक्ष तथा सापेक्ष पक्षों के बीच) नए संतुलन की खोज अत्यावश्यक है। "आचार-संहिता किसी धर्म या संस्कृति की केवल आत्मा नहीं होती, वह उसकी आत्मा से विसंगत भी हो सकती है"—शल्यजी का यह मन्तव्य 'आचार-प्रभवो धर्मः' के सन्दर्भ में ही विचारणीय है। मुझे लगता है, यह विसंगति मौलिक न होकर देश-काल-सापेक्ष होती है। आचार-संहिता तो अनिवार्यतः होगी ही। किन्तु उसमें परिवर्तन की आवश्यकता पड़ती है, ताकि जो विसंगति आयी है उसका परिहार किया जा सके। वह संस्कृति की प्राणवत्ता को बनाए रखने के लिए जरूरी है। कहा जाता है कि हमारे यहाँ विचारों की अपेक्षा आचारों के अनुशासन पर अधिक बल दिया जाता रहा है। यह सच भी है। किन्तु आधुनिक बुद्धिवादी युग के अनुरूप अब हमें विचारों के अनुशासन पर अधिक बल देना ही पड़ेगा : आचार-संहिता के पुनर्निर्माण और पुनः संस्कार के साथ-साथ। इस प्रक्रिया में हमें ईसाई और इस्लामी संस्कृतियों के सहवर्तित्व का लाभ उठाते हुए, उनसे ऐतिहासिक अनुभव का भी लाभ उठाते हुए, उनसे भी बहुत कुछ सीखने को तत्पर होना पड़ेगा। अन्ततः प्रत्येक मानव-संस्कृति को अपनी विशिष्ट अन्तर्दृष्टि हासिल करने के लिए कुछ न कुछ कीमत तो चुकानी ही पड़ती है। हमने भी वह कीमत चुकाई है। परन्तु इसका मतलब यह नहीं कि हम आगे भी वह कीमत उसी तरह चुकाते रहने को अभिशप्त हैं। इस परिवर्तनशील विश्व में शक्ति-संतुलन भी बदलते रहते हैं और इस तथाकथित वैश्विक संस्कृति के युग में कोई कारण नहीं कि हम इतिहास की गति को अपने पक्ष में—अर्थात् सचमुच सार्वभौम सांस्कृतिक मूल्यों के पक्ष में, न मोड़ सकें।

भारतीय संस्कृति उसी अर्थ में 'सम्मिश्र' कही जा सकती है जिस अर्थ में गंगा को सम्मिश्र कहा जा सकता है। भारतीय संस्कृति ठीक उसी अर्थ में एक और अखण्ड है जिस अर्थ में गंगा सम्मिश्रता के बावजूद एक और अखण्ड है। वह स्वभावतः सबको साथ लेकर चलने

वाली और विरुद्धों के बीच सामंजस्य स्थापित करने वाली संस्कृति है। दूसरे शब्दों में, उसका मूल संस्कार और वृत्ति बहिष्कार की नहीं, स्वीकार की है। उसकी विशेषता या शक्ति उसकी सम्मिश्रता के कारण नहीं है बल्कि सम्मिश्रता को एकता की तरह धारण करने की उसकी वृत्ति और शक्ति ही उसके द्वारा अर्जित मौलिक ज्ञान-प्रतीकों में से, उसके सृष्टि-संवेद की निरन्तरता में से प्रकट हुई है। वह मनुष्य की प्राकृतिकता के निषेध या नकार पर अपने को खड़ा नहीं करती, बल्कि उसके बहुदेववादी रुझान के भीतर से ही उसके अद्वैतबोध को व्यक्त करती है। उसमें भी द्वन्द्व रहा है: दुःखवाद और आनन्दवाद के बीच का द्वन्द्व, त्रासजनित विवेक और पावनताजनित विवेक के बीच चलने वाला द्वन्द्व; जिसे कि यूनान की बौद्धिक संस्कृति ने उसकी एक तार्किक परिणति तक पहुँचाया था—ट्रैजिक विज़डम तक। किन्तु हमारा सारा संकल्प, सारा पुरुषार्थ इस त्रासजनित विवेक को उस पावनता-जनित विवेक में बदलने की प्रेरणा से ही परिभाषित और चरितार्थ हुआ है। आज के विश्व में यह द्वन्द्व अपने भीषणतम रूप में उपस्थित है। भारतीय संस्कृति की सम्मिश्रता का प्रश्न इसी विभीषिका के सन्दर्भ में और इसी के बीचोंबीच आधुनिक भारत की भूमिका के सन्दर्भ में उठाना प्रासंगिक है।

रमेशचन्द्र शाह
3/2, प्रोफेसर्ज़ कोलोनी,
भोपाल--2

उन्मीलन : वर्ष ४, अंक १
जनवरी, १९८८

श्रीहर्ष-प्रणीत खण्डनखण्डखाद्य का विशद हिन्दी अनुवाद*

खण्डनखण्डखाद्य नामक जिस ग्रंथ का अनुवाद इस लेखमाला में क्रमशः प्रस्तुत किया जा रहा है वह अद्वैत वेदान्त-सम्प्रदाय का प्रथम खंडनमात्र-परक ग्रंथ माना जाता है। इस ग्रंथ के अनन्तर ही **तत्त्वप्रदीपिका, अद्वैतसिद्धि** जैसे पर-मत खंडनपरक ग्रंथों का निर्माण हुआ है। यह ग्रंथ केवल भारतीय दार्शनिक वाङ्मय में ही नहीं संसार भर के दार्शनिक वाङ्मय में अपनी अनेक विशेषताओं के कारण अतुलनीय है। इसके रचयिता संस्कृत के एक मूर्धन्य कवि तथा तार्किक होने के कारण इस ग्रंथ की भाषा अतीव प्रौढ़ एवं नपे-तुले शब्दों से ग्रथित किन्तु कहीं-कहीं क्लिष्ट है। इसमें पर-मत-निरासार्थ प्रयुक्त तर्क शब्दच्छल मात्र न होकर अन्य दार्शनिकों द्वारा प्रस्तुत किये गए शब्दार्थ-निर्वचनों के विभिन्न दोषों तथा न्यूनताओं का उद्घाटन करने वाले हैं। इस ग्रंथ में प्रयुक्त खण्डन-पद्धति की प्रसिद्ध पश्चिमी दार्शनिक ब्रैड्ले की खंडन-प्रधान कृति **अपीयरेंस एण्ड रियलिटी** (प्रतीति और सत्) में अपनायी गई वाद-पद्धति से सामान्य तुलना कर कुछ अर्वाचीन भारतीय चिन्तकों ने इन दोनों कृतियों को समकक्ष ठहराया है जो अतीव अन्यायपूर्ण विचार है। प्रस्तुत ग्रंथ की किसी भी अन्य ग्रंथ के साथ अंशतः भी तुलना नहीं की जा सकती। यह बात इस अनुवाद के प्रारंभिक अंश को पढ़ने से भी स्पष्ट हो जायगी।

श्रीहर्ष जितने श्रेष्ठ कवि थे उतने ही श्रेष्ठ दार्शनिक थे। उन्होंने **नैषध चरित** जैसे महाकाव्य तथा अन्य प्रकार के साहित्यिक ग्रन्थों की जैसे रचना की वैसे ही **ईश्वराभिसन्धि, स्थैर्य विचारण प्रकरण** आदि कतिपय अन्य दार्शनिक कृतियों का भी निर्माण किया। दुर्भाग्यवश ये अन्य ग्रंथ अब प्राप्य नहीं हैं। **नैषध चरित** में अनेक स्थानों पर उन्होंने स्पष्ट उल्लेख किया है कि इनके पिता श्रीहरि तथा मां मल्ल देवी थी एवं उन्हें कन्नौज के राजदरबार में बड़ा सम्मान प्राप्त था। यह किंवदन्ती चली आ रही है कि इनके शैशव काल में इनके पिता को राजदरबार में वादविवाद में किसी पंडित ने पराजित कर दिया जिससे अत्यन्त दुःखी होकर इनके पिता ने प्राण त्याग दिये। इस अपमान का प्रतिशोध करने के लिए श्रीहर्ष ने चिन्ता-

*साधारणतः संस्कृत में लिखित दर्शन-ग्रन्थों के हिन्दी में जो अनुवाद प्रकाशित हो रहे हैं वे भाषा और व्याख्या दोनों दृष्टियों से बहुत दोषपूर्ण हैं। इस ग्रन्थ का अनुवाद भी चौखभा संस्कृत सीरीज, वाराणसी से प्रकाशित हो चुका है। यहां हम इसका दूसरा अनुवाद इस प्रकार के अनुवादों के आदर्श उदाहरण के रूप में प्रकाशित करनाआरंभ कर रहे हैं। इस पर विज्ञ पाठकों से सुझावों का स्वागत होगा।

मणि मंत्र की साधना आरंभ की । **नैषध चरित** में उन्होंने लिखा है कि इस मंत्र को सिद्ध कर पाने के कारण ही ये इस ग्रंथ की रचना कर पाये । बाद में उन्होंने अपने पिता के पराजेता को वाद-विवाद में परास्त कर प्रतिशोध पूर्ण किया । प्रस्तुत ग्रंथ की पारंपरिक श्रेष्ठता उस पर लिखी गई अनेक व्याख्याओं से सिद्ध होती है । नव्यन्याय के मूर्धन्य पंडित रघुनाथ शिरोमणि ने भी इस ग्रंथ पर व्याख्या लिखी है तो इसकी श्रेष्ठता के सम्बन्ध में सन्देह का कोई अवकाश ही नहीं रहता । इस संक्षिप्त प्राक्कथन के अनन्तर अब हम **खंडनखण्डखाद्य का** अनुवाद प्रस्तुत कर रहे हैं :

अविकल्प विषयः एकः स्थाणुः पुरुषः श्रुतः अस्ति यः श्रुतिषु,
ईश्वरं उमया न परम् वन्दे नु मया अपि तं अधिगतम् ।

ग्रंथ के आरंभ में ग्रंथकार मंगलाचरण कर रहे हैं । इस प्रथम मगल श्लोक में शिव की वन्दना की गई है: जो ईश्वर उमा या पार्वती से अभिन्न होकर अवस्थित है, जो वेदों में चेतन ब्रह्म या आत्मा के रूप में उपवर्णित है, जो स्थाणु, निश्चल, या कूटस्थनित्य है, जो विकल्प-बुद्धि का विषय नहीं होकर अखंडानुभव का ही विषय है, वह श्रवण-मनन से अर्जित मेरी अल्प बुद्धि का भी विषय हुआ है ।

इस श्लोक में बहुत सुन्दर ढंग से विरोधाभास अलंकार का प्रयोग किया गया है जिसके लिए कुछ शब्द विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं । 'स्थाणु' का एक अर्थ ठूंठ होता है । जो एक साथ ठूंठ तथा पुरुष के रूप में प्रतीति-विषय हो वह सन्देह-विषय ही होना चाहिए, किन्तु उसे 'निर्विकल्प विषय' कहा गया है । इस विरोध का परिहार इस बात से होता है कि 'स्थाणु' शब्द 'कूटस्थ' का तथा 'पुरुष' शब्द शुद्ध चैतन्य का भी वाचक है । अतः कूटस्थ चैतन्य को अविकल्प या अखंडानुभूति का विषय कहने में कोई विसंगति नहीं है । वेदों में उपवर्णित होते हुए भी विकल्प या विशिष्ट बुद्धि का विषय न होना असंगत है । इस असंगति का परिहार 'विकल्प' शब्द को संशय के अर्थ में ग्रहण कर किया जा सकता है । उमा के साथ संलग्न होकर भी 'अनुमा' या 'उमा से भिन्न' के साथ भी संलग्न होना विरोधाभास-निर्माण करता है । इस आभास का निरास 'अनुमा' शब्द का अनुमान प्रमाण के अर्थ में प्रयोग कर अथवा 'नु मया' ऐसा पदच्छेद कर किया जा सकता है । पूरे श्लोक का भावार्थ यह है कि वेद-वाक्यों से परमार्थ तत्त्व का यथावत् श्रवण करने के अनन्तर मनन द्वारा उसका साक्षात्कारात्मक ज्ञान प्राप्त करना संभव है । श्रवण, मनन ये ब्रह्म-ज्ञान के सोपान हैं, यह बात सुविदित ही है ।

मानापनोदन विनोद नते गिरीशे,भासा इव संकुचितयोः उचितं तत् इन्दोः
भेत्तुं भव अनिश चितं दुरितं भवानि, नम्री भवानि घनं अङ्घ्रि सरोजयोः ते

इस द्वितीय मंगल श्लोक में पूर्वतन शिव-वन्दना के अनन्तर क्रम-प्राप्त शक्ति या पार्वती की वन्दना की गई है । पार्वती के रूठ जाने पर उसको मनाने के लिए उत्सुक शिव के विनम्र भाव के समान अपनी भी विनम्रता को ग्रंथकार व्यक्त कर रहा है । पार्वती के कोप को शांत करने के लिए जब शिव उसके चरणों पर मस्तक झुका लेते हैं तब उस (मस्तक) पर विराज-मान चन्द्रमा की किरणों के संपर्क से मानो पार्वती के चरण-कमलों का संकुचित हो जाना स्वाभाविक ही है । ऐसे श्रेष्ठ चरण-कमलों पर ग्रंथकार भी नतमस्तक है, जिससे दैनदिन जीवन में अहर्निश उसके द्वारा संचित सभी पाप विनष्ट हो जाय ।

इस श्लोक में पूर्वार्द्ध के नकार का अनेक शब्दों में अनेकविध प्रयोग कर तथा शब्दों के उत्तरार्द्ध-घटक मकार का विभिन्न पदों में विभिन्न रूप से प्रयोग कर छेकानुप्रास की सुन्दर संरचना की गई है।

शब्दार्थ निर्वचनखण्डनया नयन्तः सर्वत्र निर्वचनभावमखर्वगर्वान्
धीराः यथोक्तमपि कीरवदेतदुक्त्वा लोकेषु दिग्विजय कौतुकमातनुध्वम् ।।3।।

इस तीसरे श्लोक में ग्रंथकार ग्रंथ-रचना के मुख्य उद्देश्य का संक्षेप से प्रतिपादन कर रहे हैं। शब्द तथा उसके अर्थों का अन्यूनातिरिक्त परिभाषण करने की अपनी असाधारण क्षमता पर विशेष गर्व करने वाले नैयायिकादि मतावलंबियों को प्रस्तुत ग्रंथ में विशद की हुई युक्तियों की सहायता से अनायास परास्त किया जा सकता है। ये दार्शनिक निर्वचन या परिभाषण की निपुणता का यदि घमंड करते हैं तो उन्हें ग्रंथकार की बतलायी युक्तियों का नासमझी से प्रयोग करके भी निर्वचन कर दिया जा सकता है। वादविवाद के अन्त में तूष्णीभाव (मौन) ही पूर्वोक्त पक्षियों का अभीष्ट है क्योंकि ज्ञेय तत्त्व शब्दातीत होता है। वेदान्त भी उस तत्त्व का शब्दों से प्रतिपादन नहीं कर सकता।

अब अद्वैत वेदान्त की विचार या वाद-पद्धति के स्वरूप का स्पष्टीकरण करने के लिए उसके सम्बन्ध में ही प्रथम विचार किया जा रहा है।

अथ कथायां वादिनः नियमं एतादृशं मन्यन्ते। प्रमाणादयः सर्वतत्र सिद्धान्ततया सिद्धाः पदार्थाः सन्ति इति कथकाभ्यां अभ्युपेयम्। तत् अपरे न क्षमन्ते। तथाहि प्रमाणादीनां सत्त्वं यत् अभ्युपेयं कथकेन तत् कस्य हेतोः ?

किसी भी वाद-विवाद में वादियों के लिए कुछ नियम स्वीकार करना आवश्यक माना जाता है। उनमें एक महत्त्वपूर्ण नियम यह है कि सभी दर्शनों में सिद्धान्त रूप से पुरस्कृत प्रमाणादि जो पदार्थ हैं उनका स्वीकार वादियों को करना चाहिए। यह बात कुछ मनीषियों को मान्य नहीं है। वे पूछते हैं कि वादियों के लिए आवश्यक माना गया जो प्रमाणादि पुरस्कार है उसका समर्थन कैसे हो सकता है ?

किं तद् अनभ्युपगच्छद्भ्यां वादि-प्रतिवादिभ्यां तद् अभ्युपगम साहित्य नियतस्य वाग्व्यवहारस्य प्रवर्तयितुं अशक्यत्वात् ? उत कथकाभ्यां प्रवर्तनीय वाग्व्यवहारं प्रति हेतुत्वात् ? उत लोकसिद्धत्वात् ? अथवा तदनभ्युपगत्वात् ? न तावत् आद्यः। तद् अनभ्युपगच्छतः अपि चार्वाक माध्यमिकादेः वाग्विस्ताराणां प्रतीयमानत्वात्। तस्य एव वा अनिश्पत्तौ भवतः तन्निरास प्रयास अनुपपत्तेः। सः अयं अपूर्वः प्रमाणादि सत्ता अनभ्युपगमात्मा वाक् स्तंभन मंत्रो भवता अभ्यूहितः नूनं यस्य प्रभावात् भगवता सुरगुरुणा लोकायतिकानि सूत्राणि न प्रणीतानि तथागतेन वा मध्यमागमा नोपदिष्टाः, भगवत्पादेन वा बादरायणीयेषु सूत्रेषु भाष्यं न अभाषि?

इस सम्बन्ध में चार समर्थनपरक विकल्प विचार-योग्य हैं। प्रथम यह है कि प्रमाणादि के स्वीकार के साथ नियमतः कोई भी वाग्व्यवहार वाद-विवाद-सहचरित होने से जो वादी या प्रतिवादी इस स्वीकार के पक्ष में नहीं हैं वे किसी वाद-विवाद में सहगामी नहीं हो सकते। द्वितीय विकल्प यह होगा कि वादविवाद का घटित होने का (साक्षात्) प्रमाणादि-स्वीकार ही कारण है। तृतीय विकल्प के अनुसार प्रमाणादि-स्वीकार लोकसिद्ध होने से समर्थनीय है। चतुर्थ विकल्प के अनुसार प्रमाणादि स्वीकार न किया जाय तो वादविवाद के फल-रूप जो

तत्त्व-निर्णय तथा विजय है वे अप्रस्तुत प्रसंग में भी घटित होने लगेंगे । इन चार में से प्रथम विकल्प मान्य नहीं हो सकता । प्रमाणादि का अस्वीकार करने वाले चारवाक, माध्यमिक बौद्ध आदि के विचारों का पर्याप्त विस्तार हुआ दिखायी पड़ता है । यदि इस प्रत्यक्षसिद्ध तथ्य को ही अस्वीकार करें तो इन दर्शनों के विचार के खण्डन का प्रयास जो वेदान्त ने किया है वह अर्थहीन हो जायगा । 'प्रमाणादि का स्वीकार नहीं किया' ऐसा कथन कोई वाक्स्तंभन मंत्र नहीं है कि जिसके प्रयोग मात्र से प्रभावित होकर देवताओं के गुरु शुक्राचार्य ने चार्वाक-सूत्रों की रचना करना छोड़ दिया हो, या बुद्ध ने माध्यमिक दर्शन का प्रणयन किया हो, अथवा शंकराचार्य ने व्यास-सूत्रों पर भाष्य लिखना छोड़ दिया हो ।

प्रमाणादि अभ्युपगम्य अपि प्रवर्तयन्तु नाम ते वाचो भंगीः, ताः तु साधन-बाधन क्षमाः न भवन्ति तावता इति ब्रूमः इति चेत् ? न । प्रमाणादि अनभ्युपगम्य प्रवर्तितत्वं तदीय साधन-बाधन अक्षमतायां न नियामकम् । किन्तु सद्वचन आभास-लक्षणयोगित्वं इति अवश्य अभ्युपेयं भवता । ये अभ्युपगम्य अपि प्रमाणादीनि प्रवर्तिताः मतांतर अनुसारिभि- व्यवहाराः अभ्युपगत प्रमाणादि सत्वैः मतान्तर व्यवहारिभिः अपरैः अतथाभूताः इति कथ्यन्ते । यदि तु अस्मत् वचसि सद्वचन आभासलक्षणं न भवान् दर्शयितुं ईष्टे तदा अनभ्युपगम्य प्रमाणादीनि भवता प्रवर्तितः अयं व्यवहारः इति शतकृत्वः तया उच्यमाने अपि न अस्माकं आदरः । अन्यथा अभ्युपगम्य प्रमाणादीनि भवता प्रवर्तितः अयं व्यवहारः इति एतावता भवदीयः व्यवहार आभासः इति अस्माभि अपि वक्तुं शक्यते एव ।

प्रथम विकल्प पर उपस्थित की गई आपत्ति का प्रतिवाद करते हुए प्रतिपक्षी (अवेदान्ती) अब कहता है कि प्रमाणादि-अस्वीकार कर भी चार्वाकादि दार्शनिक भले ही कुछ भी कथन करते रहें लेकिन इस प्रमाणादि-अस्वीकार के कारण ये स्वपक्ष-समर्थन तथा परपक्ष-निराकरण-क्षम नहीं हो पाते । (इसीलिए उनके मत वेदान्तियों आदि द्वारा खंडित हो जाते हैं) । वेदांती इसके उत्तर में कहता है कि चार्वाकों का प्रमाण-अस्वीकार उनके विचारों की साधन-बाधन-क्षमता का नियामक नहीं है । प्रमाणों के अस्वीकार के कारण उनके मत खंडित नहीं हुए हैं । किन्तु सद्वचनाभास या हेत्वाभास जैसे दोष इनमें विद्यान होने से वे त्याज्य माने गए हैं । यही कारण है कि यदि वादी और प्रतिवादी दोनों प्रमाणादि स्वीकार करने वाले हों तो उनमें से एक को दूसरा इसी आधार पर अग्राह्य ठहराता है कि उसके कथन हेत्वाभासपूर्ण हैं । अतः वेदांतियों के कथनों में प्रतिपक्षी कोई हेत्वाभास आदि दोष नहीं दिखा पाये तो 'आपका शब्द-प्रयोग प्रमाणादि-स्वीकार-पूर्वक नहीं, ऐसा सैकड़ों बार वह कहे तो भी उसकी परवाह कौन करेगा ? यदि असंबद्ध प्रलाप के द्वारा ही किसी का प्रतिवाद करना हो तो प्रमाणादि स्वीकार करने वाले को 'तुम्हारा शब्द प्रयोग प्रमाणादि-पुरस्कार पूर्वक हैं ऐसा कह कर भी खंडनार्ह मान लिया जा सकता है ।

ननु यदि प्रमाणादीनि न सन्ति तदा व्यवहार एव धर्मी कथं सिद्ध्येत् ? दूषणादि व्यवस्था वा कथं स्यात् ? सर्वविधि-निषेधानां प्रमाण-अधीनत्वात् ? मा एवम् । न ब्रूमः वयं न सन्ति प्रमाणादीनि इति स्वीकृत्य कथा आरभ्या इति । किं नाम सन्ति न सन्ति प्रमाणादीनि इति अस्यां चिन्तायां उदासीनैः ? अन्यथा न संति

प्रमाणादीनि इति मतं अस्माकं आरोप्य यत् इदं भवता दूषणं उक्तं तत् अपि न वक्तुं शक्यम् । कीदृशीं मर्यादां आलंब्य प्रवृत्तायां कथायां इदं दूषणमं उक्तम् ? किं प्रमाणादीनां सत्त्वं अभ्युपगम्य उभाभ्यां वादिभ्यां प्रवर्तितायां कथायाम् ? उत असत्वं अभ्युपेत्य ? अथ एकेन सत्त्वं अपरेण च सत्त्वं अंगीकृत्य ? न आद्यः । अभ्युपगत प्रमाणादि सत्त्वं प्रति एतादृश पर्यनुयोग अनवकाशात् द्वितीये च स्वतः अपि आपत्ते न तृतीयः तया एव कथान्तरस्यापि प्रसक्तेः । उभय अभ्युपगम अनुरोधित्वात् च कथानियमस्य । यथा स्वीकृत्य तानि भवता व्यवह्रियते तथा व्यवहारिभिः एव कथा प्रवर्त्यतां इति ।

अब प्रतिपक्षी एक प्रश्न उपस्थित करता है कि यदि प्रमाण ही न हों (उनके अस्वीकार का यही तात्पर्य हो सकता है) तो प्रमाणों पर निर्भर करने वाला विधि निषेध-व्यवहार या वाद-विवाद की प्रक्रिया कैसे घटित होंगे ? वेदान्ती का इस पर उत्तर है कि उसका कथन यह नहीं है कि 'प्रमाण सुतरां नहीं हैं' यह सिद्धांत मान कर ही वाद-विवाद किया जाय । वह तो यह कहना चाहता है कि प्रमाण है या नहीं इस विचार में पड़ने की आवश्यकता ही नहीं है । जैसे अन्य वादी प्रमाणों की सत्ता स्वीकार कर वाद-विवाद में प्रवृत्त होते हैं वैसे ही वेदान्ती भी उक्त विचार के प्रति उदासीन बन कर वाद-विवाद में सहभागी हो सकता है । ऐसी वस्तुस्थिति नहीं हो तो उन पर यह आरोप कि 'वेदान्ती प्रमाणादि स्वीकार नहीं करते' नहीं लगाया जा सकता था । कोई भी आरोप वाद-विवाद के सन्दर्भ में ही उपस्थित किया जाता है । अब पूछ सकते हैं कि किस प्रकार के वाद-विवाद को पूर्वाभ्युपगत कर यह दोषा-रोपण किया गया है ? कुल तीन प्रकार के वाद-विवाद संभव हैं । एक वह जिसमें वादी-प्रतिवादी दोनों प्रमाणादि की सत्ता स्वीकार करने वाले हों, दूसरा वह जिसमें दोनों ही प्रमाणादि की सत्ता अस्वीकार करने वाले हों, तीसरा वह जिसमें एक प्रमाणादि को स्वीकार करने वाला हो और दूसरा अस्वीकार करने वाला । अब, यदि कहा जाय कि दोनों वादी प्रमाणादि स्वीकारक होने पर ही उक्त दूषण उपस्थित किया गया, तो यह बात व्याघातपूर्ण होगी । जो प्रमाणों को स्वीकार करते हैं उनको यह कहना कि 'प्रमाणों की सत्ता नहीं मानने पर कोई विचार नहीं हो सकता' असम्बद्ध प्रलाप जैसा है । उक्त दूसरे विकल्प के अनुसार वादी-प्रतिवादी दोनों प्रमाणादि के अस्वीकारक होने से उक्त दोष वेदान्ती और उसके प्रतिपक्षी दोनों पर समान रूप से लागू होगा । तीसरे विकल्प में, एक वादी प्रमाणादि स्वीकारक होने पर भी दूसरा अस्वीकारक है इसलिए इस वाद-विवाद में उक्त दोषोद्‌भावन हो सकता है । किन्तु इसी विकल्प के अनुसार ऐसा भी वाद-विवाद संभव है जिसमें वादी-प्रतिवादी के पक्ष बदल गए हों, अर्थात् जो पहले स्वीकर्त्ता था वह अब अस्वीकर्त्ता और जो पहले अस्वीकर्त्ता था वह अब स्वीकर्त्ता हो गया हो । यह मूल प्रश्न का वास्तविक समाधान नहीं है । समाधान वस्तुतः यह है कि वाद-विवाद के सभी नियम वादी-प्रतिवादी दोनों को सम्मत होने चाहिएं । प्रमाणों के बिना कोई विचार नहीं हो सकता, यह उक्त दोष वेदान्ती को अमान्य होने मात्र से वह तीसरे प्रकार के वाद-विवाद में उसके उपस्थापन का प्रतिवाद कर सकता है ।

अन्यथा स्वाभिप्रायं आलंब्य तेन अपि त्वत् वचसि यत्किंचित् बाक् आत्मनि-दूषणे अभिहिते कस्य जयः व्यवतिष्ठताम् ? प्रमाणादि अभ्युपगन्तुः एव यावत् नियम

भर यंत्रणा महती स्यात् । तस्मात् प्रमाणादि सत्त्वासत्त्वाभ्युपगम औदासीन्येन व्यवहार-नियमेन समयं बद्ध्वा प्रवर्तितायां कथायां भवता इदं दूषणं उक्तं इति उचित एव तथा सति स्यात् । यः अयं स्वाभिप्रायं अपि न अवधारयितुं न शक्नोति दूरतः तस्मिन् पर-अभिसन्धान अवधारण प्रत्याशा ।

यदि यह आपत्ति की जाय कि वेदान्ती को मान्य हो या अमान्य उक्त दोष तो दोष ही है अतः उसका निराकरण आवश्यक है, तो वेदान्ती उस पर कह सकता है कि वह भी प्रतिपक्षी को अमान्य अथवा मान्य ऐसी कोई भी बात वाद-विवाद में उपस्थित करे तो किसका पक्ष विजयी माना जायगा ? बात यह है कि वादविवाद में उद्भावित दोष दोनों वादियों को स्वीकार्य होना चाहिए। प्रमाणों को स्पष्टतया स्वीकार करने वाले की दृष्टि से जो दोष उचित होगा वह वेदान्ती की दृष्टि से असबद्ध प्रलाप मात्र होगा। अतः ऐसा कोई दोष वाद-विवाद में उपस्थित नहीं किया जाना चाहिए जिसका आधार प्रमाणादि स्वीकार हो। प्रतिपक्षी की स्थिति इस वाद-विवाद में बड़ी कठिन हो जाती है क्योंकि वह स्वयं ही प्रमाणादि स्वीकार करने के बन्धन से अपने को व्यर्थ जकड़ लेता है। इसलिए उचित यही है कि प्रमाण-सत्ता के प्रश्न के प्रति उदासीनभाव धारण कर के ही अन्य विचार-नियम : जिसे समय-बंध कहते हैं : निर्धारित किये जाँय और इनके अनुसार विचार चलाया जाय। ऐसे विचार में उक्त दोष कदापि उपस्थित नहीं किये जा सकते। प्रतिपक्षी उक्त दोष उपस्थित करते हुए संभ्रमित हुआ प्रतीत होता है। प्रमाण के अस्वीकारपूर्वक चलाये वाद-विवाद को उक्त दोष लागू होता है यह वह कहता है और साथ ही प्रमाणों के बिना वाद-विवाद ही घटित नहीं हो सकता, यह भी वह कहता है। ये दोनों बातें परस्पर असंगत हैं। वेदान्ती के कथन के प्रति भी वह संभ्रमित लगता है। वेदान्ती जब कहता है कि प्रमाणादि का स्वीकार वाद-विवाद के लिए अनावश्यक है तो प्रतिपक्षी इसका यह अर्थ करता है कि वेदान्ती कह रहा है कि "प्रमाण असत् है।" इस प्रकार जो अपनी ही बात ठीक तरह नहीं समझ पाया उससे दूसरे की बात समझ सकने की आशा करना व्यर्थ है।

अथ वादीकृत्य दुर्वैतण्डिक तस्मिन् उपाधौ अभिधीयते इति एव न इष्यते । शिष्यादयः तु तस्य कथा अनधिकार ज्ञाप्यते। अतएव भाष्यकारः-"सः प्रयोजनं अनुयुक्तः यदि प्रतिपद्यते" इति आह स्म न तु "प्रतिपद्यसे" इति। मा एवम्। शिष्यादीन् प्रति अपि "चार्वाकादेः दोषः" अयं इति एव अभिधातव्यम्। कथं च तथा स्यात् ? तस्य कथा प्रवेशन अप्रवेशनयो तत् बाध अक्षमत्वात्। कथायां एव हि निग्रहः।

प्रतिपक्षी पुनः (प्रमाण-सत्ता-समर्थन में तथा) उक्त दोषोद्भावन के पक्ष में कहता है कि दुर्वैतण्डिक, अर्थात् अपने कोई पक्ष या स्थापना का प्रतिपादन न करने वाले वेदान्ती, पर कोई दोष आरोपित किया जा रहा है यह बात नहीं है। किन्तु शिष्यों को यह समझाया जा रहा है कि वैतण्डिक प्रमाणादि के स्वीकार के प्रति उदासीन होने के कारण वेदान्तविषयक वाद-विवाद में सहभागी होने का अधिकारी नहीं है। भाष्यकार वात्स्यायन इसीलिए वैतंडिक के खंडन की प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए "यदि उसे उसके शब्दोच्चारण का प्रयोजन पूछने पर वह समझ कर उत्तर देता हो•••"ऐसी तृतीय पुरुषोपयुक्त भाषा का प्रयोग करते हुए दिखायी

देते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि भाष्यकार के मतानुसार भी वाद में वैतण्डिक का निग्रह संभव नहीं है। किन्तु वेदांती का भी प्रत्याख्यान संभव है। इस पर भी प्रत्युत्तर हो सकता है कि शिष्यों को भी वैतंडिक का दोष किसी न किसी चर्चा के प्रसंग में ही समझाया जा सकता है। जिस चर्चा में यह स्पष्टीकरण किया जायगा वह प्रमाण-स्वीकार पर आधारित नहीं हो सकती। इस चर्चा में प्रवेश करने का वेदान्ती या चार्वाक अधिकारी न हो तो उसके संदर्भ में अनधिकार की बात करना व्यर्थ है। यदि वह अधिकारी है तब तो उसके अनधिकार की बात ही अनधिकारपूर्ण है। कोई भी दोषोद्भावन-चर्चा में सहभागी वादियों के मत के सम्बन्ध में ही हुआ करता है।

न अपि द्वितीयः। तथाहि स्यात् अपि एवं यदि कथक प्रवर्तनीय वाग्व्यवहारं प्रति प्रमाणादीनां हेतुता तत् सत्व अभ्युपगमे निर्वेति। न तु एवं संभवति। तथा सति तत् सत्त्व अनभ्युपगन्तॄणां वाग्व्यवहार-स्वरूपं एव न निष्पद्यते हेतु अनुपपत्तेः। उक्तेः च अयं अर्थः यत् माध्यमिकादि वाग्व्यवहाराणां स्वरूप-अपलापः न शक्यते इति। अथ मन्यसे कथक वाग्व्यवहारं प्रति हेतुत्वात् प्रमाणादीनां सत्त्वं, सत्त्वात् च अभ्युपगमः यत् सत् तत् अभ्युपगम्यते इति स्थितेः इति ? एवम्।

अब प्रारंभ में उपस्थित किये गये (प्रमाणादि स्वीकारसमर्थनपरक) चार विकल्पों से प्रथम का निरसन हो जाने से द्वितीय विकल्प की चर्चा कर रहे हैं। वेदान्ती का कथन है कि वादि-प्रतिवादियों के चर्चारूप व्यवहार के लिए प्रमाणों के कारण होने की जो बात द्वितीय विकल्प में कही गयी है वह प्रमाणों की सत्ता स्वीकार न करने से खंडित नहीं हो जाती। यदि ऐसा होता तो प्रमाणादि-अस्वीकारक चार्वाक, माध्यमिकादि वादियों के विचार विचार ही नहीं रह जायेंगे। इस पर कह सकते हैं कि वाग्व्यवहार या चर्चा के हेतुभूत होने से प्रमाण सत् हैं और जो सत् है वह स्वीकार्य होता है। इस कारण इन वादियों को भी प्रमाण स्वीकार्य होने चाहियें। नहीं। इस संबंध में वस्तुस्थिति कुछ अन्य ही है।

मा एवं कया अपि नियमस्थित्या प्रवृत्तायां कथायां कथक वाग्व्यवहारं प्रति हेतुत्वात् प्रमाणादीनां सत्त्वं, सत्त्वात् च अभ्युपगमः भवता प्रसाध्यः। कथातः पूर्वं तत्त्व-अवधारणं पर-पराजयं वा अभिलषद्भ्यां कथकाभ्यां यावता विना तत् अभिलषितं न पर्यवस्यति तावत् अनुरोद्धव्यम्। तत् च व्यवहार-नियम समयं बंधात् एवं द्वाभ्यां अपि ताभ्यां संभाव्यते इति व्यवहार-नियम-समयं एवं बध्नीतः। स च प्रमाणेन, तर्केण च व्यवहर्तव्यं वादिना। प्रतिवादिना अपि कथांग तत्त्वज्ञान विपर्यय लिङ्ग प्रतिज्ञा-हान्यादि अन्यतम निग्रहस्थानं तस्य दर्शनीयम्। तद् व्युत्पादने प्रथमस्य भंगः व्यवहर्तव्यः। अन्यथा तु द्वितीयस्य एव। तादृश इतरौ च जेतृतया व्यवहर्तव्यौ। प्रामाणिकः पक्षः तात्त्विकतया व्यवहर्तव्य इत्यादि रूपः। अत एव व्यवहार-नियम समय-बंधे अपि हेतुः वक्तव्यः। तया च सः अपि हेतुः कथायां प्रवृत्तायां अभिधातु युक्तः इति प्रमाणासत्त्व अभ्युगम हेतु अभिधानवत् प्रत्यवस्थाने अनवकाशम्। द्वाभ्यां अपि वादिभ्यां विचार-प्रवृत्त्या अभिलष्यमाण तत्त्वव्यवस्था जय मूलत्वेन व्यवहार-नियमस्य स्वेच्छया एव परिगृहीतत्वात्।

वेदान्ती (प्रमाण-सत्त्व के संबंध में अपनी भूमिका स्पष्ट) कह रहा है कि कुछ नियमों को स्वीकार कर चलायी गयी चर्चा में ही यह बात सिद्ध होगी कि, सत्ता की चर्चा के लिये प्रमाण आवश्यक है यह सिद्ध हो जाने पर ही प्रमाण–सत्ता–स्वीकृति की आवश्यकता सिद्ध हो सकती है । इसपर से स्पष्ट हो जाता है कि सभी चर्चा में प्रमाण-सत्ता स्वीकृति की अपेक्षा नहीं रखती किन्तु 'समयबंध' सभी चर्चाओं के लिए अनिवार्यतया आवश्यक है । उसका स्वरूप इस प्रकार है: चर्चा के पूर्व तत्त्वनिर्णय या विजय चाहने वाले वादी–प्रतिवादी इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये (व्यवहार-नियम या) 'समय-बंध' की सहायता लिया करते हैं । चर्चा के लिये इसकी ही आवश्यकता होती है । समयबंध में इस नियम का समावेश है कि वादी को प्रमाण तथा तर्क-संमत विचार प्रस्तुत करने चाहियें । प्रतिवादी को तत्त्वनिर्णय के प्रतिकूल वादी के कथन में निग्राह्य जो हेत्वाभासादि दोष हों उनका उद्भावन करना चाहिये । यदि निग्रह-स्थान सिद्ध हुआ तो वादी परास्त माना जायगा, अन्यथा प्रतिवादी । जो पक्ष प्रमाण-सिद्ध होगा उसे सत्य समझना होगा या उसके संबंध में सत्यता का व्यवहार करना होगा ।

इस प्रकार के समयबंध के सम्बन्ध में प्रमाण-सत्ता की स्वीकृति विषयक आपत्ति के जैसी आपत्ति उठाना उचित नहीं । चर्चामात्र के लिये समयबंध की कारणता किसी चर्चा में प्रस्थापनीय नहीं है । तत्त्व-व्यवस्था तथा जयपराजय के निर्धारण के लिये वादी-प्रतिवादी दोनों स्वेच्छा से ही समयबंध का पुरस्कार किया करते हैं । उसकी उपयुक्तता चर्चा से संसाधनीय नहीं है ।

न च एवं प्रमाण अनुपज्ञ स्वेच्छामात्र-परिगृहीत मूलत्वात् मूल अपरिशुद्धि संभवेन सर्व विचार विचार्य-फल विप्लवापत्तिः स्यात् । अविद्याविद्यमान अनादि पारंपर्य आयातस्य लोकव्युत्पत्ति-गृहीत संवादस्य च तस्य अन्यथाभाव असंभाव्यता-लक्षण स्वतःसिद्धि परिशुद्धत्वात् । न च प्रमाणादि-सत्तापि इत्थं एव उभाभ्यां अंगी-कर्त्तुं उचिता । तादृश व्यवहार-नियम मात्रेण एव कथाप्रवृत्ति उपपत्तेः । प्रमाणादि-सत्ता अभ्युपगमेपि तथाविध व्यवहार-नियम व्यतिरेके तत्त्वनिर्णयस्य जयस्य वा अभिलषितस्य कथकयोः अपर्यवसानात् ।

उक्त समाधान पर यह प्रश्न संभव है कि प्रमाणों का आधार बिना लिये केवल स्वेच्छा से समयबंध का पुरस्कार किया जाय तो सभी विचारों के मूल में ही अपरिशुद्धि रह जायेगी जिससे विचार और विचार-परिणाम इनमें सत्यासत्य का भेद नहीं किया जा सकेगा । इस प्रश्न का उत्तर यह होगा कि समयबंध में जो संकेत बना हुआ है उसका मूल तोअविद्या ही है । (अर्थात् शिष्टाचार-परंपरा के मूल में विश्व की कारणभूत अविद्या ही होती है) । इस संकेत की प्रमाणता लोकव्युत्पत्ति पर आधारित है अतः इसके अन्यथाभाव की संभावना नहीं । मतलब इस का यह है कि व्यवहार के संकेत प्रमाणाधिष्ठित न होने पर भी व्यवहार के यथावत् संचालन के लिये पर्याप्त होते हैं । उनके लिये व्यवहार-संपादन से अतिरिक्त सप्रमाणता की अपेक्षा करना उपयुक्त नहीं है । ऐसे व्यावहारिक संकेत ही चर्चा आदि के लिये पर्याप्त हैं । प्रमाणादि की सत्ता स्वीकार करने पर भी इन संकेतों या समयबंध के बिना तत्त्व–निर्णय, जय-पराजय आदि चर्चा के उद्देश्य कदापि सिद्ध नहीं हो सकते ।

न अपि तृतीयः । लोक-व्यवहारः हि प्रमाण-व्यवहारः वा स्यात् पामरादि-साधारण व्यवहारः वा ? न आद्यः, विचार-अंतरेण तस्य दुर्निरूपत्वात् । न अपि

द्वितीयः। शरीर आत्मत्वादीनां अपि तथा सति भवता स्वोकर्त्तव्यता आपातात्। पश्चात् तत् विचार - बाध्यतया न अभ्युपेयते ? इति चेत् तर्हि प्रमाणादयः अपि यदि विचारबाध्या भविष्यन्ति तदा न अभ्युपेयाः एव, अन्यथा तु उपगंतव्यः, इति लोक-व्यवहार-सिद्धतया सत्त्वं अभ्युपगम्यते इति तावत् न भवति। न अपि चतुर्थः। यादृश भवता प्रमाणादीनि अभ्युगम्य व्यवहार-नियमः कथायां आलंब्यते तस्य एव प्रमाणादि सत्त्व-असत्त्व अनुसरण उदासीने अस्माभिः अपि अवलंबनात् ! तस्य यदि मां प्रतिफल अतिप्रसञ्जत्कवं तदा त्वां प्रति अपि समानः प्रसंगः।

पूर्वोक्त तृतीय विकल्प के अनुसार प्रमाणादि-स्वीकार लोकसिद्ध है। लोक-सिद्ध का अर्थ या तो 'प्रामाणिक व्यवहारसिद्धि' ऐसा होगा या 'अप्रबुद्ध जन-साधारण के व्यवहार-सिद्ध' होगा। इनमें प्रथम प्रकार के लोकसिद्ध का विचार के बिना स्पष्टीकरण संभव नहीं। द्वितीय के अनुसार तो देहात्मत्व-व्यवहार का भी स्वीकार आवश्यक हो जायगा। विचार-बाध्य होने से यह व्यवहार त्याज्य हो तो प्रमाण-व्यवहार भी विचार-बाध्य प्रतीत होने पर त्याज्य हो सकता है। ऐसी स्थिति में लोक-व्यवहार-सिद्धता प्रमाणादि के स्वीकार का कारण नहीं मानी जा सकती। चतुर्थ विकल्प भी स्वीकारार्ह नहीं है। प्रतिपक्षी प्रमाणादि का स्वीकार करते हुए जिस प्रकार के व्यवहार--नियम (समय-बंध) का वादविवाद में पुरस्कार करता है उसी प्रकार के व्यवहार-नियमों को स्वीकार कर प्रमाणादि सत्त्वासत्त्व का विचार ही न करते हुए वेदान्ती भी चर्चा में सहभागी हो सकता है। यदि ऐसे नियम भी तत्त्व-निर्णय, जय-पराजय जैसे चर्चा-परिणामों को यत्र-तत्र अनियमित रूप से उत्पन्न कर सकें तो यह बात वेदान्ती तथा उसके प्रतिपक्षी इन दोनों के लिए समान ही होगी। अतः अतिप्रसंग से डरकर प्रमाणादि-सत्ता स्वीकार करना उचित नहीं।

अब तक की चर्चा से यह बात स्पष्ट हो गयी होगी कि वेदान्ती अपने किसी मत या सिद्धान्त के प्रस्थापन के लिए इतर चिन्तकों के साथ चर्चा नहीं कर रहा है। चर्चा के लिए सामान्यतः आवश्यक समझे जाने वाले प्रमाणादि की सत्ता स्वीकार करने के लिए भी वह तैयार नहीं है। इसका मतलब यह नहीं है कि वह प्रमाणादि की सत्ता अस्वीकार कर विचार में प्रवृत्त होता है। स्वीकार-अस्वीकार दोनों उसके विचार में चर्चा के लिए अनपेक्षित हैं। यथावत् चर्चा चलाने के लिये कम से कम जितनी बातें या संकेतों का पुरस्कार अनिवार्य हो उतनों का ही एक बंधन के रूप में (वस्तुतः सत्तारूपेण नहीं) पुरस्कार कर वेदान्ती प्रतिपक्षी के साथ चर्चा में सम्मिलित होना चाहता है।

नारायण शास्त्री द्राविड़
प्रोफेसर्ज़ कोलोनी, हनुमान नगर,
नागपुर

इन्द्रप्रस्थ
भारती

हिन्दी अकादमी की त्रैमासिक साहित्यिक पत्रिका

संपादक : डा० नारायणदत्त पालीवाल

यदि आप चाहते हैं कि बेहतर पढ़ने को मिले तो आपकी इस ज़रूरत को

'इन्द्रप्रस्थ भारती'

हिन्दी अकादमी की साहित्यिक त्रैमासिक पत्रिका पूरा करती है, जो महज़ एक पत्रिका नहीं, पूरी किताब है।

जिसमें वर्ष भर में छः सौ पृष्ठों की साहित्यिक सामग्री उपलब्ध करायी जाएगी,

जिसमें देश के ज़िम्मेदार लेखक हिस्सेदारी करेंगे।

यह पत्रिका समकालीन साहित्य का रचनात्मक मूल्यांकन और गतिविधियों को प्रस्तुत करती है। एक सौ बावन से अधिक पृष्ठ की इस पत्रिका के एक अंक का मूल्य पाँच रुपये, वार्षिक बीस रुपये। आपका सहयोग हमें बेहतर सेवा के लिए और अधिक प्रोत्साहित करेगा।

वार्षिक शुल्क मनीआर्डर/बैंक ड्राफ्ट/पोस्टल आर्डर द्वारा इस पते पर भेजें :—

सचिव,
हिन्दी अकादमी, दिल्ली
ए–26/27, सनलाइट इंश्योरेंस बिल्डिंग,
आसफ अली रोड, नई दिल्ली–110002

विषय-सूची

१. अद्वैत और मिथ्यात्व	गोविन्दचन्द्र पांडे	१
२. तत्त्वमीमांसा और उसका औचित्य	यशदेव शल्य	६
३. दार्शनिक सिद्धान्त और उनका प्रमापण	नारायण शास्त्री द्राविड़	२६
४. धर्मों की तात्त्विक एकता अथवा समता का प्रवाद	हर्षनारायण	३६
५. स्वधर्म और काल-गति : लेखक का दृष्टिकोण	रमेशचन्द्र शाह	४६
६. प्रस्तुति : सत् की जिज्ञासा एवं दार्शनिक प्रश्न	राजेन्द्रस्वरूप भटनागर	६१
७. टिप्पणी—क्या भारतीय संस्कृति सम्मिश्र संस्कृति है ?	रमेशचन्द्र शाह	६६
८. श्रीहर्ष-प्रणीत खण्डनखण्डखाद्य का विशद हिन्दी अनुवाद	नारायण शास्त्री द्राविड़	७५

आजीवन शुल्क :
व्यक्ति रु. २५०.००
संस्थाएं रु. १५००.००

वार्षिक शुल्क :
व्यक्ति रु. २०.००
संस्थाएं रु. ४०.००

दर्शन प्रतिष्ठान

पी–५१, मधुवन पश्चिम, टोंक रोड, जयपुर ३०२०१५

यशदेव शल्य द्वारा दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर के लिए पी-५१, मधुवन पश्चिम, टोंक रोड, जयपुर से प्रकाशित एवं जेक प्रिन्टर्स, किसान मार्ग, टोंक रोड, जयपुर में मुद्रित।